मेरी मुक्ति की कहानी



लियो टॉल्सटॉय

मेरी मुक्ति की कहानी

सुपाठ्य तथा बोधप्रद आत्मकथा

•

लेखक
लियो टॉल्सटॉय

•

अनुवादक
रामनाथ 'सुमन'
परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी

•

2009

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशकीय

हिन्दी के पाठक टॉल्सटॉय के नाम से भली-भांति परिचित हैं। उनकी अनेक कृतियों का हिन्दी अनुवाद हुआ है और पाठकों के बीच उन्हें असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

प्रस्तुत पुस्तक उनके 'ए कन्फेशन' तथा 'रिफ्लेक्शन' का अनुवाद है। इस पुस्तक का टॉल्सटॉय-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें इनका जीवन संघर्ष और उसके स्वभाव की झांकी पाठकों को मिलती है। यह उनकी संक्षिप्त आत्मकथा है। इसमें उनके आंतरिक संघर्ष तथा आत्मिक विकास की कहानी बड़े ही स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत की गई है।

आशा है, पाठक टॉल्सटॉय की इस प्रसिद्ध पुस्तक तथा 'मण्डल' द्वारा प्रकाशित उनकी अन्य लोकप्रिय पुस्तकों से भरपूर लाभ उठाएँगे।

—मंत्री

मेरी मुक्ति की कहानी

: 1 :

मेरा बपतिस्मा और पालन-पोषण ईसाई मत में हुआ था। मुझे बाल्यावस्था में तथा किशोर व युवावस्था में इसी मत के धार्मिक विश्वासों की शिक्षा-दीक्षा दी गई थी। परंतु जब मैं 18 साल की उम्र में यूनिवर्सिटी से निकला तो जो बातें मुझे सिखाई-पढ़ाई गई थीं, उनमें से किसी पर मेरा विश्वास नहीं रह गया था।

जहां तक मुझे याद पड़ता है कह सकता हूं कि मुझे जो-कुछ सिखाया-पढ़ाया गया था और मेरे इर्द-गिर्द के बड़े-बूढ़े लोग जिन बातों को मानते थे उन पर मेरा पक्का विश्वास कभी नहीं था, फिर भी मैं उन पर भरोसा करता था; परंतु मेरा यह भरोसा भी बड़ा डावांडोल था।

मुझे याद है कि जब मैं पूरे ग्यारह साल का भी न था, तब स्कूल का ब्लाडीमीर मिलयटिन नाम का छात्र (जिसकी बहुत दिन हुए मृत्यु हो गई) एक रविवार को हमारे यहां आया और उसने एक सबसे ताज़ी नवीन बात हमें सुनाई, जिसकी खोज उसके स्कूल में हुई थी। खोज यह हुई थी कि ईश्वर नाम की कोई चीज़ नहीं है और उसके बारे में हम लोगों को जो कुछ सिखाया जाता है वह सब काल्पनिक है (यह घटना 1838 ई. की है)। मुझे याद है कि मेरे बड़े भाइयों ने इस खबर में कितनी दिलचस्पी ली थी! उन्होंने मुझे भी अपनी मंत्रणा में बुलाया। हम सब-के-सब खूब उत्तेजित हो गए थे और हमने यह स्वीकार किया कि यह खबर बड़ी मनोरंजक है और बिल्कुल मुमकिन है।

मुझे यह भी याद है कि जब मेरे बड़े भाई दमित्री, जो उस वक्त

यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे थे, एकाएक अपने स्वाभाविक जोश-खरोश के साथ धर्म-मार्ग पर झुक पड़े, गिर्जे की सब प्रार्थनाओं एवं उपदेशों में हिस्सा लेने लगे और उपवास करने तथा पवित्र एवं सदाचार-पूर्ण जीवन बिताने लगे। तब हम सब—हमारे बड़े-बूढ़े तक—बराबर उनकी हँसी उड़ाते और न मालूम किस वजह से उनको 'नूह' कहते थे। मुझे याद है कि कजान यूनिवर्सिटी के प्रबंधक पुजिन-मुश्किन ने एक बार हमें अपने घर नृत्य के लिए न्यौता दिया। हमारे भाई उनका न्यौता मंजूर नहीं कर रहे थे, तब उन्होंने व्यंग से यह तर्क करके उनको किसी तरह राजी किया कि डेविड तब आर्क के सामने नाचे थे।

मैं अपने बड़े-बूढ़ों के इन मज़ाकों में रस लेता था और इनसे मैंने यह नतीजा निकाला था कि यद्यपि प्रश्नोत्तर-पाठ (धर्म-पुस्तक) की जानकारी और गिर्जे में जाना जरूरी है; पर किसी को इन बातों को ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिए। मुझे यह भी याद है कि लड़कपन में मैंने वाल्टेयर की रचनाएं पढ़ी थीं और उनके धर्म का उपहास उड़ाने से मुझे दुःख तो क्या होता, उलटे मेरा बहुत मनोरंजन होता था।

धर्म पर मेरी अनास्था ठीक उसी प्रकार हुई जिस प्रकार हमारे समान शिक्षा पाए हुए लोगों में अक्सर हो जाती है। मैं समझता हूं कि अधिकतर यह बात इस तरह होती है। और लोगों की तरह कोई एक आदमी ऐसे उसूलों के आधार पर जिंदगी बसर करता है जिनका धार्मिक सिद्धान्तों से न सिर्फ कोई ताल्लुक नहीं होता, बल्कि आमतौर से उनके विरोधी होते हैं। धार्मिक सिद्धान्तों का जीवन पर कोई असर नहीं रहता। न तो दूसरों के प्रति उनके मुताबिक आचरण किया जाता है और न अपनी जिंदगी में आदमी उन पर कोई ध्यान देता है। धार्मिक सिद्धान्त जिंदगी से अलग और उनसे दूर माने जाते हैं। अगर उनका कहीं दर्शन होता है तो वे जिंदगी से अलग एक बाहरी चीज के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

आजकल की भांति उस समय भी किसी के जीवन अथवा आचरण से यह फैसला करना कि यह आस्तिक है या नास्तिक, असंभव था और

अब भी है। अगर अपने को खुले-आम कट्टर धार्मिक कहनेवाले में और अपने को विधर्मी कहनेवाले में कोई फर्क है तो वह धार्मिकों के पक्ष में नहीं है। इस वक्त की तरह उस समय भी खुले-आम अपनी धार्मिकता का एलान करने वाले ज्यादातर उन्हीं आदमियों में मिलते थे, जो हीन-बुद्धि और बे-रहम होते थे, पर अपने को बहुत ज्यादा वकत देते थे। योग्यता, सच्चाई, विश्वसनीयता, शील, स्वभार और सदाचरण अक्सर नास्तिकों में ही पाया जाता था।

स्कूलों में धर्म-पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं और वहां से विद्यार्थियों को गिर्जे भेजा जाता है। सरकारी अफसरों को 'कम्यूनियन' (प्रभु ईसा के स्मरणार्थ भोज, जिसमें ध्यान करके उनके साथ संपर्क स्थापित किया जाता है) प्राप्त करने का प्रमाण-पत्र पेश करना पड़ता है। पर हमारी श्रेणी का कोई आदमी, जिसने अपनी शिक्षा पूरी कर ली है और जो सरकारी नौकरी में नहीं है, आज भी 10–20 साल बिता दे सकता है और उसे एक बार भी याद नहीं आएगा कि वह ईसाइयों के बीच रह रहा है और खुद कट्टर ईसाई मत का सदस्य समझा जाता है। उस जमाने में तो यह बात और सरल थी।

इस तरह पहले भी यह बात होती थी। और अब भी होती हैं कि धार्मिक सिद्धान्त लोगों की देखा-देखी या बाहरी दबाव से मान लिये जाते हैं और जिंदगी का ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होने पर, जो उसके विपरीत होता है, वे बिखरने लगते हैं। और मज़ा यह है कि बहुधा आदमी इस कल्पना में रहता है कि बचपन में उसे जो धार्मिक सिद्धान्त बताए गए थे, वह उनका पालन कर रहा है, जबकि उसके आचरण में उनका नाम-निशान भी बाकी नहीं होता।

'एस' नाम के एक होशियार और सत्यवादी आदमी ने एक बार मुझे अपनी कहानी सुनाई थी कि कैसे वह नास्तिक बन गया। जब वह 26 साल का था, तब की बात है। वह शिकार खेलने गया। रात के वक्त एक जगह पड़ाव डाला गया। बचपन से चली आई आदत की वजह से उसने

शाम के वक्त झुककर प्रार्थना शुरू कर दी। इस शिकार में उसका बड़ा भाई भी साथ था। वह घास पर लेटा हुआ अपने छोटे भाई के इस काम को देख रहा था। जब 'एस' प्रार्थना खत्म कर चुका और रात में आराम करने की तैयारी करने लगा तब उसके बड़े भाई ने कहा—'अच्छा! तुम अभी तक यह सब करते जाते हो?'

उन्होंने एक-दूसरे से और कुछ भी नहीं कहा। लेकिन उस दिन से 'एस' ने प्रार्थना करना या गिर्जे में जाना छोड़ दिया। और अब उसे प्रार्थना छोड़े, उपासना किए या गिर्जे में गए तीस साल हो चुके हैं। ऐसा उसने इसलिए नहीं किया कि वह अपने भाई के विश्वासों या विचारों को समझकर उन्हें अपना चुका था या खुद अपनी आत्मा में कुछ फैसला कर चुका था। ऐसा उसने सिर्फ इसलिए किया कि उसके भाई के कहे हुए शब्द ने उस दीवार को धक्का देने वाली उंगली का काम किया, जो खुद अपने बोझ से गिरने को हो रही हो। भाई के शब्द ने सिर्फ इतनी-सी बात जाहिर कर दी थी कि वह समझता था धर्म-निष्ठा क़ायम है, परंतु वास्तव में बहुत दिनों पहले से उसका सफाया हो चुका था। इसलिए प्रार्थना के वक्त कुछ शब्दों को दोहराना, क्रास के चिह्न बनाना या आराधना के लिए घुटने मोड़कर बैठना सब व्यर्थ था। जब उसे इन कृत्यों की निरर्थकता का अनुभव हुआ तब वह उन्हें जारी नहीं रख सका।

ज्यादातर आदमियों के साथ इसी प्रकार होता रहा है और होता है। मैं उन लोगों की बात कह रहा हूं, जिन्होंने हमारे दर्जे की तालीम पाई है और जो अपने प्रति ईमानदर हैं। मैं उन लोगों की बात नहीं कह रहा हूं जो दुनियावी इरादों और आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए धर्माचरण को साधन बनाते हैं। (ऐसे आदमी सबसे बड़े नास्तिक हैं; क्योंकि अगर उनके लिए धर्म-निष्ठा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति करने का उपाय है तो फिर वह वास्तव में धर्म-निष्ठा नहीं।) हमारी तरह की शिक्षा पाए हुए इन लोगों की स्थिति यह है कि ज्ञान और जीवन के प्रकाश ने एक बनावटी इमारत को ढहा दिया है और उन्होंने या तो यह बात देख ली है

और उस जगह की सफाई कर दी है या फिर अभी तक इधर उनका ध्यान ही नहीं गया है।

दूसरों की तरह मेरी भी गति हुई। बचपन से सिखाये गए धार्मिक सिद्धांत लुप्त हो गए; लेकिन इतना फर्क जरूर रहा कि 15 साल की उम्र में मैंने दार्शनिक ग्रंथों को पढ़ना शुरू कर दिया, जिससे धर्म-सिद्धांतों का त्याग छोटी उम्र में ही सचेत मन से हुआ। सोलह साल का होते ही मैंने स्वेच्छा से प्रार्थना करनी बंद कर दी। मेरा चर्च (गिर्जाघर) जाना और उपवास करना छूट गया। जो कुछ मुझे बचपन में सिखाया गया था, उसमें मेरा विश्वास नहीं रह गया था; लेकिन कोई-न-कोई चीज़ ऐसी जरूर थी जिसमें विश्वास करता था। वह कौन-सी चीज़ है जिसमें मेरा विश्वास था, यह उस समय मैं नहीं बता सकता था। मैं ईश्वर में विश्वास करता था या यों कह सकते हैं कि ईश्वर के अस्तित्व से इनकार नहीं करता था; पर उस वक्त यह बताना मेरे लिए असंभव था कि वह ईश्वर किस तरह का है। मैं ईसा और उनकी शिक्षाओं को भी अस्वीकार नहीं करता था; लेकिन उनकी शिक्षाएं क्या हैं, यह मैं नहीं कह सकता था।

जब मैं उस ज़माने की तरफ नजर दौड़ाता हूं तो अब मुझे साफ-साफ दिखाई पड़ता है कि मेरे निष्ठा—मेरी एकमात्र वास्तविक निष्ठा—जो यदि पाशविक प्रवृत्तियों को छोड़ दूं तो मेरे जीवन को गति देती थी। मेरा यह विश्वास था कि मुझे अपने को पूर्ण बनाना चाहिए। लेकिन इस पूर्णता के मानी क्या हैं या उसका प्रयोजन क्या है; इसे मैं नहीं बता सकता था। मैंने मानसिक दृष्टि से अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश की—मैंने हर एक चीज़ का, जिसका अध्ययन कर सकता था, किया। मैंने अपनी संकल्प-शक्ति पूर्ण करने की कोशिश की; मैंने ऐसे नियम बनाए, जिनका पालन करने की मैं कोशिश करता था; मैंने शारीरिक दृष्टि से भी अपने को पूर्ण किया—हर तरह की कसरतों से अपनी ताकत बढ़ाने और शरीर में फुर्ती लाने की कोशिश की और सब तरह के सुख-साधनों के त्याग से अपनी सहन-शक्ति और धीरज बढ़ाने का यत्न किया। मैं यह सब पूर्णता

की खोज में कर रहा था। निश्चय ही इन सबकी शुरुआत नैतिक पूर्णता से हुई; पर जल्दी ही उसका स्थान सब तरह की सामान्य परिपूर्णता ने ले लिया, अर्थात् मेरे अंदर यह इच्छा पैदा हुई कि मैं न सिर्फ अपनी और ईश्वर की दृष्टि में, बल्कि दूसरे लोगों की दृष्टि में भी अच्छा बनूं। और बहुत जल्द यह चेष्टा फिर दूसरों से ज्यादा शक्तिशाली बनने की इच्छा में बदल गई और मन में यह बात पैदा हुई कि मैं दूसरे से अधिक प्रसिद्ध, अधिक महत्त्वपूर्ण तथा अधिक धनी बनूं।

: 2 :

किसी दिन मैं अपनी जवानी के दस सालों के जीवन की संवेदनशील और शिक्षाप्रद कहानी बयान करूंगा। मेरा ख्याल है कि और भी बहुतेरे आदमियों को ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। अपनी संपूर्ण आत्मा से मैं अच्छा बनना चाहता था; लेकिन जब मैंने अच्छा बनने की कोशिश शुरू की तो मैं जवान था, वासनाओं का दास था और अकेला था—बिल्कुल अकेला। जब-जब मैंने नैतिक रूप से भला बनने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट की, तब-तब हर बार मेरा उपहास किया गया और दिल्लगी उड़ाई गई; लेकिन ज्यों ही मैं तुच्छ वासनाओं के आगे सिर झुका देता था, मेरी तारीफ की जाती और मुझे बढ़ावा दिया जाता था।

आकांक्षा, शक्ति का प्रेम, लोभ, कामुकता, लंपटता, घमंड, क्रोध और प्रतिहिंसा सबकी इज्जत की जाती थी।

इन वासनाओं के आगे सिर झुकाकर मैं वयस्क लोगों की श्रेणी में जा बैठा और मैंने अनुभव किया कि वे मेरा समर्थन करते हैं। मेरी बुआ, जिनके साथ मैं रहता था, खुद बहुत ही शुद्ध और ऊँचे चरित्र की थीं, लेकिन वह भी मुझसे सदा कहा करती थीं कि उनकी प्रबल इच्छा है कि किसी विवाहिता स्त्री से मेरा संबंध हो जाए। 'जवान आदमी को बनाने में कोई चीज उतना काम नहीं करती, जितना एक कुलीन महिला-से घनिष्ठता काम करती है।' मेरे लिए दूसरा सुख वह यह चाहती थीं कि मैं एडीकांग

(किसी सेनापति या प्रतिष्ठित पदाधिकारी का अंग-रंक्षक), और संभव हो तो सम्राट का एडीकांग बनूं। पर सबसे बड़ा सुख तो उन्हें इस बात से होगा कि मैं किसी अत्यंत धनी कन्या से विवाह कर लूं जिससे मेरे पास दासों की ज्यादा-से-ज्यादा संख्या हो जाए।

बिना त्रास, घृणा और हृदय-वेदना के मैं उन सालों का ख्याल नहीं कर सकता। मैंने लड़ाई में आदमियों का वध किया, मैंने लोगों का वध करने के लिए उनको द्वन्द्वयुद्ध में ललकारा; मैंने जुआ खेला, उसमें हारा; मैंने किसानों से बेगार ली और उन्हें सजाएं दीं; बुरे आचरण किए और लोगों को धोखा दिया। मिथ्याभाषण, लोगों को लूटना, हर तरह का व्यभिचार, मद्य-पान, हिंसा, खून—मतलब कोई ऐसा अपराध नहीं था जिसे मैंने न किया हो, और मजा यह कि इन सब कामों के लिए लोग मेरे आचरण की तारीफ करते थे और मेरे जमाने के आदमियों ने मुझे और लोगों के मुकाबले में सदाचारी व्यक्ति समझा और समझते हैं।

दस साल तक मेरा यही जीवन था।

इसी समय मैंने अहंकार, लोभ और अभिमानवश लिखना शुरू किया। मैंने अपनी रचनाओं में वही किया जो मैं अपनी ज़िंदगी में करता था। प्रसिद्धि और धन प्राप्त करने के लिए मैं लिखता था और इसके लिए अच्छाई को छिपाना और बुराई का प्रदर्शन करना जरूरी था। मैंने यही किया। न जाने कितनी बार मैंने अपनी रचनाओं में उदासीनता अथवा उपहास के जामे में, अपनी भलाई की तरफ जानेवाली उन प्रेरणाओं को छिपाने और दबाने की कोशिश की, जिनसे मेरे जीवन की सार्थकता थी। मैं इसमें सफल हुआ और इसके लिए लिए मेरी प्रशंसा की गई।

छब्बीस[1] साल की उम्र में, मैं लड़ाई के बाद पीटर्सबर्ग लौटा और लेखकों से मिला। उन्होंने मुझे अपनाया, स्वागत किया और मेरी चापलूसी की। और इसके पहले कि मैं अपने चारों ओर दृष्टि डालता, मैंने उन

---

1. कुछ स्मृति-दोष मालूम होता है। वह सत्ताईस वर्ष के थे। —सं.

लेखकों के जीवन-संबंधी विचार ग्रहण कर लिये थे, जिनके बीच मैं आया था। इन विचारों ने मेरे भला बनने की पूर्व की सारी प्रेरणाओं का लोप कर दिया। इन विचारों ने ऐसा सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया जिससे मेरी जिंदगी की लंपटता और विषयासक्ति सही साबित हो गई।

मेरे इन साथी लेखकों के जीवन-संबंधी विचार ये थे : सामान्य जीवन विकसित होता रहता है और इस विकास में विचार-प्रधान आदमी खास हिस्सा लेते हैं; फिर विचार-प्रधान आदमियों में भी हमारा—कलाकारों और कवियों का—सबसे अधिक प्रभाव होता है। हमारा धंधा मनुष्य-जाति को शिक्षा देना है। और कहीं यह सीधा-सादा सवाल किसी के दिल में न उठ खड़ा हो कि मैं जानता क्या हूं और शिक्षा किस बात की दे सकता हूं, इसलिए इस सिद्धांत में यह कहा गया था कि इसका जानना जरूरी नहीं है; कलाकार और कवि अप्रकट रूप में ही शिक्षा देते हैं। मैं एक सराहनीय कलाकार और कवि समझा गया था, इसलिए मेरे लिए इस सिद्धांत को मान लेना स्वाभाविक था। मैं, कलाकार और कवि, लिखता तथा शिक्षा देता था, परन्तु स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या लिख रहा हूं और क्या शिक्षा दे रहा हूं। और इसके लिए मुझे धन मिलता था, मुझे अच्छा भोजन, मकान, स्त्री और समाज सब-कुछ मिला हुआ था; मेरा यश भी फैला था जिससे यह मालूम पड़ता था कि जो कुछ मैं सिखा रहा हूं वह बहुत अच्छी चीज है।

कविता के और जीवन के विकास के संबंध में इस तरह का विश्वास एक प्रकार से धर्म था और मैं उसका पुरोहित। उसका पुरोहित होना बड़ा सुखद और लाभदायक था। मैं बहुत दिनों तक इस धर्म को उसके औचित्य में किसी तरह का संदेह किए बिना, मानता रहा। किन्तु इस जीवन के दूसरे और विशेष रीति से तीसरे साल में मैं इस धर्म की निर्भ्रान्तता पर संदेह करने लगा और मैंने उसकी जांच करनी भी शुरू कर दी। इस संदेह का पहला यह कारण था कि मैंने देखा कि इस धर्म के सब पुरोहित आपस में एक राय नहीं रखते। कुछ कहते थे: हम सबसे अच्छे और उपयोगी

शिक्षक हैं; हम वही शिक्षा देते हैं जिसकी आवश्यकता है। दूसरे गलत शिक्षा देते हैं। दूसरे कहते: नहीं, असली शिक्षक हम हैं; तुम गलत शिक्षा देते हो। और वे एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते, गाली-गलौज करते और धोखा देते थे। हम में से बहुतेरे ऐसे भी थे, जिनको इसकी परवाह न थी कि कौन सही है और कौन गलत; वे सिर्फ हमारी इन कार्यवाइयों के जरिये अपना मतलब साधने में लगे हुए थे। इन सब बातों की वजह से मैं भी इस धर्म की सच्चाई में संदेह करने को विवश हो गया।

इसके अतिरिक्त लेखकों के धर्म-मत में इस तरह संदेह करना शुरू करने के बाद मैं उसके पुरोहितों पर भी ज्यादा बारीक नजर रखने लगा और मुझे पक्का विश्वास हो गया कि इस धर्म के करीब-करीब सब पुरोहित, लेखकगण असदाचारी और अधिकतर दुश्चरित्र एवं अयोग्य हैं तथा उन लोगों से भी नीचे हैं, जिनसे मैं अपने पहले के भ्रष्ट और सैनिक जीवन में मिला था। वे आत्म-विश्वासी एवं आत्म-सन्तुष्ट थे और ऐसे वे ही आदमी हो सकते हैं जो बिल्कुल पवित्र हों या फिर जो जानते भी न हों कि पवित्रता किस चिड़िया का नाम है। इन आदमियों से मुझे घृणा होने लगी; मुझे स्वयं अपने से घृणा हो गई और मैंने अनुभव किया कि यह मत सिर्फ धोखाधड़ी के सिवाय कुछ नहीं है।

लेकिन ताज्जुब है कि यद्यपि मैं इस धोखेबाजी को समझ और छोड़ चुका था; पर मैंने उस पद-मर्यादा का त्याग नहीं किया जो इन आदमियों ने मुझे दे रखी थी—यानी कलाकार, कवि और शिक्षक की मर्यादा। मैं बड़े भोलेपन के साथ कल्पना करता था कि मैं कवि और कलाकार हूं और मैं हरेक को शिक्षा दे सकता हूं, यद्यपि मैं स्वयं नहीं जानता था कि मैं क्या शिक्षा दे रहा हूं। और मैं तदनुसार कार्य करता रहा।

इन आदमियों संसर्ग से मैंने एक नई बुराई सीखी। मेरे अंदर यह असाधारण घमंड और मूर्खतापूर्ण विश्वास पैदा हुआ कि आदमियों को शिक्षा देना ही मेरा धन्धा है; चाहे मुझे स्वयं मालूम न हो कि मैं क्या शिक्षा दे रहा हूं।

उस जमाने की और अपनी तथा उन आदमियों की (जिनके समान आज भी हजारों हैं) मनोदशा याद करना अत्यंत दुःखदायक, भयानक और अनर्गल है और इससे मन में ठीक वही भावना पैदा होती है जो आदमी को पागलखाने में महसूस होती है।

उस समय हम सबका विश्वास था कि हमें जितनी तेजी के साथ और जितना ज्यादा मुमकिन हो बोलना, लिखना और छपाना चाहिए और यह सब मनुष्य के हित के लिए जरूरी है। हम में से हजारों ने एक-दूसरे का खंडन और परस्पर निंदा करते हुए लिखा और छपवाया—दूसरों की शिक्षा के लिए। और यह नहीं बताया कि हम कुछ नहीं जानते या जीवन के इस बिल्कुल सीधे-सादे प्रश्न पर कि अच्छाई क्या है और बुराई क्या है, हम नहीं जानते कि हम क्या जवाब दें। हम एक-दूसरे की सुनते न थे और सब एक ही वक्त बोलते थे; कभी इस खयाल से दूसरे का समर्थन और प्रशंसा करतें थे कि वह भी मेरा समर्थन और प्रशंसा करेगा। और कभी एक-दूसरे से नाराज हो उठते थे, जैसा कि पागलखाने में हुआ करता है।

हजारों-लाखों मजदूर दिन-रात अपनी पूरी ताकत से काम करते और उन करोड़ों अक्षरों को टाइप में इकट्ठा करते और छापते, जिन्हें डाकखाना सारे रूस में फैला देता था। और हम सब शिक्षा देते ही जाते थे, हमें शिक्षा देने का काफी वक्त तक नहीं मिलता था, हमें सदा इस बात पर खीझ रहती थी कि हमारी तरफ ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

यह बड़े ही ताज्जुब की बात थी; पर इसका समझना मुश्किल न था। हमारी आंतरिक इच्छा तो यह थी कि अधिक-से-अधिक धन और प्रशंसा प्राप्त हो। इस मतलब को हल करने के लिए हम बस किताबें और अखबार लिख सकते थे। हम यही करते थे। पर यह फिजूल का काम करने और यह आश्वासन रखने के लिए कि हम बड़े महत्त्वपूर्ण लोग हैं, हमें अपने कामों को उचित ठहराने वाले एकमत की आवश्यकता थी। इसलिए हम लोगों के बीच यह मत चल पड़ा : 'जितनी बातों का

अस्तित्व है वे सब ठीक हैं। जो कुछ है उस सबका विकास होता है। यह विकास संस्कृति के जरिये होता है और संस्कृति की माप किताबों और अखबारों के प्रचार से की जाती है। और चूंकि हमको किताबें और अखबार लिखने से धन और सम्मान मिलता है, इसलिए हम सब आदमियों से अच्छे और उपयोगी हैं।' अगर सब लोग एक राय के होते तो यह मत ठीक माना जा सकता था; पर हम में से हर एक आदमी, जो विचार प्रकट करता, दूसरा सदा उसके बिल्कुल विरोधी विचार प्रकट करता था, इसलिए हमारे मन में चिंता पैदा होनी चाहिए थी; पर हमने इसकी उपेक्षा की। लोग हमको धन देते थे और अपने पक्ष के लोग हमारी तारीफ करते थे; इसलिए हम में से हर एक अपने को ठीक समझता था।

आज मुझे साफ-साफ मालूम पड़ता है कि यह सब पागलखाने-जैसी बातें थीं; पर उस वक्त मुझे सिर्फ इसका धुंधला आभास था और जैसा कि सभी पागलों का कायदा है, मैं अपने सिवाय और सबको पागल कहता था।

: 3 :

इस तरह के पागलखाने में मैंने छः साल और बिता दिए—यानी तब तक जब तक कि मेरी शादी नहीं हो गई। इस अवधि में मैं विदेश गया। यूरोप में मेरा जैसा जीवन रहा, उससे, और प्रमुख यूरोपियन विद्वानों से मेरा जो परिचय हुआ उससे, मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया कि पूर्णता के लिए कोशिश करनी चाहिए; क्योंकि मैंने देखा कि उनका भी ऐसा ही विश्वास था। इस विश्वास ने मेरे अन्दर भी वही रूप ग्रहण किया जो हमारे जमाने के अधिकतर शिक्षित लोगों के हृदय में करता है। इसे 'प्रगति' के नाम से प्रकट किया जाता है। तभी मुझे ख्याल आया कि इस शब्द के कुछ मानी हैं। दूसरे जीवित आदमियों की तरह मुझे भी यह सवाल परेशान किए हुए था कि मेरे लिए किस तरह जिंदगी बसर करना सबसे अच्छा होगा? पर उस समय तक मैं यह ठीक नहीं समझ पाया था

कि इस सवाल पर मेरा जवाब, 'प्रगति के अनुकूल जीवन बिताओ', नाव पर सवार उस आदमी के जवाब की तरह है जो तूफान के बीच पड़ा हुआ है और 'किधर नाव खेना है, का जवाब यह कहकर देता है कि 'हम कहीं बहे जा रहे हैं।'

उस वक्त वह बात मेरे ध्यान में नहीं आई थी। कभी-कभी, बुद्धि से समझकर नहीं, बल्कि अंत:प्रेरणा से मैं इस मिथ्या विश्वास के प्रति विद्रोह करता था, जो हमारे जमाने में सर्वप्रचलित था और जिसके जरिये आदमी जिंदगी के मानी समझने में अपना अज्ञान खुद अपने से ही छिपाता है। उदाहरणार्थ जब मैं पेरिस में ठहरा हुआ था तब एक आदमी को फांसी दी जाती देखकर मुझे प्रगति में विश्वास की अस्थिरता का पता चला, जिसमें मेरा मिथ्या-विश्वास था। जब मैंने सिर को धड़ से जुदा होते देखा और शव को बक्स में भरा जाते देखा तब मैंने न सिर्फ अपने मस्तिष्क से, बल्कि अपनी संपूर्ण अन्तरात्मा से यह महसूस किया कि हमारी वर्तमान प्रगति का औचित्य सिद्ध करनेवाला कोई मत इस कार्य को उचित नहीं साबित कर सकता। यद्यपि बुनियादी शुरुआत से हरएक आदमी ने चाहे किसी उसूल पर इसे जरूरी बताया है; पर मैं यह जानता हूं कि यह गैरजरूरी और बुरा काम है। मैंने अनुभव किया कि भला क्या है, इसका फैसला यह देखकर नहीं किया जा सकता कि लोग क्या कहते और करते हैं, प्रगति भी इसका निर्णय नहीं कर सकती, इसका फैसला तो मेरा हृदय और 'मैं' ही कर सकता हूं, प्रगति में मूढ़ विश्वास जीवन का पथ-प्रदर्शन कर सकने के लिए नाकाफी है, यह मैंने दूसरी बार अपने भाई की मौत पर अनुभव किया। वह बुद्धिमान थे, भले थे और गंभीर स्वभाव के थे। फिर भी जवानी में बीमार पड़े, एक साल से अधिक समय तक कष्ट भोगते रहे और बगैर यह समझे हुए वह किसलिए जिये और उनको किसलिए मरना पड़ रहा है, बड़ी वेदना के साथ उनकी मौत हो गई। इन सवालों का जवाब मुझको या उनको जब वह धीरे-धीरे कष्टपूर्वक मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे थे, किसी उसूल या मत से नहीं हासिल हो सका

'पर इस तरह सन्देह तो मेरे मन में कभी-कभी ही उठते थे; वास्तव में प्रगति का समर्थक बनकर जीवन व्यतीत करता रहा। 'सबका विकास होता है और उसके साथ मेरा भी विकास होता है; सबके साथ मेरा विकास क्यों होता है, इसका पता भी कभी लग जाएगा।' उस समय उस तरह का विश्वास मुझे बना लेना चाहिए था।

विदेश से लौटने पर मैं देहात में बस गया। यहां मुझे किसानों के स्कूल में काम करने का मौका मिला, यह काम खास तौर पर मेरी रुचि के अनुकूल था। इसमें मुझे उस झूठ का सामना नहीं करना पड़ता था, जो साहित्यिक साधनों से लोगों को शिक्षा देते समय मेरे निकट स्पष्ट हो जाता था और मुझे घूरता था। यह ठीक है कि यहाँ भी मैंने 'प्रगति' के नाम पर काम किया; पर मैं अब स्वयं 'प्रगति' को संदेह की दृष्टि से देखता था। मैंने अपने से कहा—कुछ मामलों में प्रगति गलत ढंग से हुई है। इन आदिम सीधे-सादे किसानों के बच्चों के साथ तो पूरी आज़ादी से ही बर्ताव करना चाहिए और उनको खुद चुनने देना चाहिए कि वे प्रगति का कौन-सा रास्ता पसन्द करते हैं।' वास्तव में मैं एक ही असाध्य समस्या के चारों तरफ लगातार चक्कर काट रहा था; वह समस्या यह थी कि 'क्या शिक्षा दी जाए', यह जाने बिना, किस तरह शिक्षा दी जा सकती है। ऊंचे दर्जे की साहित्यिक सेवा के समय मैंने यह महसूस कर लिया था कि कोई तब तक शिक्षा नहीं दे सकता जब तक यह जान न ले कि क्या शिक्षा देनी है। मैंने देखा था कि सब लोग जुदा-जुदा ढंग से शिक्षा देते हैं और आपस में लड़कर सिर्फ़ एक-दूसरे से अपना अज्ञान छिपाने में सफल होते हैं। लेकिन यहां किसानों के बच्चों के बीच काम करते हुए मैंने यह कठिनाई दूर करने के लिए सोचा कि मैं उन्हें पूरी आजादी दे दूंगा कि वे जो चाहें सीखें। अब मुझे यह याद करके आनन्द आता है कि मैं अपनी शिक्षा देने की इच्छा तृप्त करने के प्रयत्न में क्या-क्या करता था। अपनी अंतरात्मा में मैं अच्छी तरह जानता था कि मैं कोई उपयोगी शिक्षा नहीं दे सकता; क्योंकि मैं जानता ही नहीं क्या उपयोगी है। साल भर तक स्कूल का काम

करने के बाद मैं दूसरी बार इस बात की खोज करने विदेश गया कि स्वयं कुछ न जानते हुए भी मैं दूसरों को कैसे शिक्षा दे सकता हूं।

और मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि मैंने विदेश जाकर यह सीख लिया और किसानों की मुक्ति के साल (1861) में मैं इस अर्जित ज्ञान के साथ रूस लौटा। लौटते ही मैं पंच (किसानों और जमींदारों के बीच शांति बनाये रखने के लिए) बना दिया गया। स्कूल में मैंने अशिक्षित किसानों को सिखाना-पढ़ाना शुरू किया और एक पत्रिका निकालकर शिक्षित वर्ग को उसके द्वारा शिक्षा देने लगा। सब कुछ ठीक चलता हुआ मालूम पड़ता था, पर मैं महसूस कर रहा था कि मेरी मानसिक दशा अच्छी नहीं है और इस तरह से ज्यादा दिन चल नहीं सकता। उस समय यदि जीवन का एक दूसरा पहलू न शुरू हो जाता, जिसका अनुभव मैं अभी तक कर नहीं पाया था और जिससे सुखी हो जाने की आशा थी, अर्थात् यदि मेरा विवाह न हो जाता तो वैसी ही भयंकर निराशा होती जैसी पंद्रह साल बाल हुई।

एक साल तक मैंने अपने को पंचायत, स्कूल और पत्रिका के काम में इतना व्यस्त रखा कि मैं—विशेष रीति से अपनी मानसिक व्यग्रता के कारण—बिल्कुल पस्त हो गया और बीमार पड़ गया। पंच की हैसियत से मुझे ज़बर्दस्त कशमकश करनी पड़ती थी, स्कूलों में मेरे काम का अस्पष्ट परिणाम निकल रहा था और पत्रिका में मेरी अपनी उलट-फेर से घृणा होती थी (क्योंकि उसमें सिर्फ एक ही बात होती थी—हरेक को शिक्षा देने की इच्छा और यह छिपाने की कोशिश कि मुझे इसका ज्ञान नहीं कि क्या शिक्षा देनी चाहिए)। मेरी बीमार शारीरिक होने की अपेक्षा मानसिक अधिक थी। मैंने सब काम छोड़ दिए और मैं साफ़-साफ़ हवा में सांस लेने, कूमाज[1] पीने और सिर्फ जानवरों जैसी जिंदगी बिताने के ख्याल से बशकीर के मैदानों में चला गया।

---

1. घोड़ी के दूध से बनाया हुआ एक तरह का हल्का नशा पैदा करने वाला पेय।

वहाँ से लौटने के बाद मैंने शादी कर ली। सुखी कौटुम्बिक जीवन ने मुझे जीवन के सामान्य अर्थ की खोज से विमुख कर दिया। उस वक्त मेरी सारी जिन्दगी अपने कुटुम्ब, स्त्री और बच्चों में केन्द्रित थी, इसलिए मुझे अपनी जीविका के साधन बढ़ाने की फिक्र भी लग गई। अपने को पूर्ण बनाने की कोशिश करने की बजाय मैं सामान्य पूर्णता यानी प्रगति को अपना चुका था, परन्तु अब उसकी जगह मैं अपने और अपने कुटुम्ब के लिए यथासम्भव अच्छी-से-अच्छी सुविधएं जुटाने की कोशिश में लग गया।

इस तरह पन्द्रह साल और बीते।

यद्यपि अब मैं लेखन-कार्य को कोई महत्त्व नहीं देता था, फिर भी मैं उन पंद्रह सालों में यही कार्य करता रहा। मैं पुस्तक-लेखक होने का प्रलोभन—आर्थिक पुरस्कार पाने और निकम्मी रचनाओं के लिए यश प्राप्त करने का प्रलोभन, अनुभव कर चुका था और अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने तथा सामान्य जीवन के अर्थ के संबंध में अपनी अंतरात्मा के अन्दर उठनेवाले प्रश्नों को दबा देने के लिए मैंने लिखना जारी रखा।

मेरे लिए जो एकमात्र सच्चाई रह गई थी, वही मैं दूसरों को अपनी रचनाओं के जरिये सिखाने लगा—यानी आदमी को इस तरह रहना चाहिए कि वह अपने कुटुम्ब के लिए अधिक-से-अधिक सुख-सुविधाओं का प्रबंध कर सके।

इस तरह जिंदगी की गाड़ी चलती रही; लेकिन पांच साल पहले एक अजीब अनुभव होने लगा। शुरू में किसी क्षण परेशानी और उलझन का अनुभव होता था; ऐसा मालूम होता था कि जिंदगी की रफ्तार बंद हो गई है, उसमें कोई रुकावट पैदा हो गई है और मैं नहीं जानता कि किस तरह जीना चाहिए और क्या करना चाहिए। मैं अपने को खोया हुआ और खिन्न अनुभव करता था। लेकिन वे क्षण बीत जाते थे और मेरी जिंदगी पहले-जैसी बीतती रही। कुछ दिनों बाद इस तरह की उलझन बार-बार होने लगी और उसकी सूरत भी एक ही होती थी। यह उलझन कुछ इस

सवाल की सूरत में सामने आती थी : 'यह जीवन किसलिए है ? यह कहाँ ले जाता है ?'

शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा लगता था कि ये बेमानी और बेसिर-पैर के सवाल हैं। मैंने सोचा कि यह सब अच्छी तरह जाना हुआ है और अगर कभी मैं इसे हल करना चाहूंगा तो मुझे कुछ ज्यादा मेहनत न करनी पड़ेगी; फिलहाल मेरे पास इसके लिए वक्त नहीं है; पर जब मैं चाहूंगा, इसका जवाब ढूंढ़ लूंगा। पर ये सवाल बार-बार दिमाग में उठने लगे और जवाब देने के लिए ज्यादा जोर देने लगे। एक ही जगह गिरती हुई स्याही की तरह उन्होंने एक बड़ा काला निशान बना दिया।

इसका नतीजा वही हुआ जो घातक अंदरूनी बीमारी से पीड़ित हरेक आदमी का होता है। पहले तबीयत की गिरावट के हल्के लक्षण दिखाई पड़ते हैं, जिसकी तरफ अस्वस्थ आदमी ध्यान नहीं देता; फिर ये लक्षण जल्द-जल्द, बाँर-बार दिखाई पड़ने लगते हैं और फिर लगातार पीड़ा की अवधि में बदल जाते हैं। तकलीफ बढ़ती जाती और इसके पहले कि बीमार आदमी अपने इर्द-गिर्द नज़र डाले, वह चीज, जिसे उसने महज तबीयत का भारीपन समझ रखा था, दुनिया में उसके लिए सब चीजों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण बन चुकी होती है—वह मौत है।

मेरे साथ भी ऐसा हुआ। मैंने समझ लिया कि यह कोई आकस्मिक अस्वस्थता नहीं है, बल्कि कोई बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। और अगर ये सवाल इस प्रकार बार-बार सामने आते रहे तो इसका जबवा देना ही पड़ेगा। मैंने उनका जवाब देने की कोशिश की। ये सवाल अत्यंत महत्त्वपूर्ण, सीधे और बचकाने मालूम पड़ते थे; लेकिन ज्यों ही मैंने उन्हें हल करने की कोशिश की, त्यों ही मुझे यकीन हो गया कि (1) वे बचकाने और मूर्खतापूर्ण सवाल नहीं हैं, बल्कि जिंदगी के सवाल में सबसे महत्त्वपूर्ण और गंभीर हैं, और (2) मैं चाहे जितनी कोशिश करूं उनको हल करने में असमर्थ हूं। अपनी समारा की जमींदारी संभालने, अपने बेटे की शिक्षा का प्रबन्ध करने और किताब लिखने के पहले मेरे लिए यह जानना जरूरी

हो गया कि मैं यह सब क्यों कर रहा हूं। जब तक मैं जान न लेता तब तक कोई काम नहीं कर पाता था, यहां तक कि जिंदगी नामुमकिन मालूम पड़ती थी। उस वक्त मैं जमींदारों के इन्तजाम में ज्यादा फंसा हुआ था; लेकिन उसके झंझटों के बीच भी एकाएक यह सवाल मेरे दिमाग में पैदा हो जाता कि—

'तुम्हारे पास समारा सरकार में 6000 'देसियातना'[1] जमीन है, 300 घोड़े हैं; पर इसके बाद?'...मैं परेशान हो जाता और समझ में नहीं आता कि क्या सोचूं? इसी तरह अपने बच्चों की शिक्षा की योजनाओं पर विचार करते-करते मैं अपने से पूछने लगता—'यह किसलिए?' जब इस बात पर विचार कर रहा होता कि किसानों को समृद्ध कैसे बनाया जा सकता है, मैं एकाएक अपने से सवाल कर बैठता—'पर इससे मुझे क्या मिल सकेगा?' अथवा जब मैं अपनी पुस्तकों से मिलने वाली प्रसिद्धि पर विचार करता होता तो अपने से पूछता—'बहुत अच्छा, तुम गोगल[2], पुश्किल[3], शेक्सपीयर[4], या मौलियर'[5], बल्कि दुनिया के सब लेखकों से ज्यादा प्रसिद्ध होगे—पर इससे क्या?' मुझे इसका कुछ भी जवाब नहीं सूझता था। इधर सवाल ठहरने को तैयार न थे, वे तुरन्त जवाब चाहते थे और अगर मैं उनका जवाब न देता तो मेरा जीना नामुमकिन था। पर क्या करता, कुछ जवाब ही न था।

मैंने अनुभव किया कि जिस चीज पर मैं इतने दिनों से खड़ा था वह गिर गई है और मेरे पांव के नीचे कोई आधार नहीं है; जिस चीज के सहारे मैं इतने दिनों तक जी रहा था वह खत्म हो गई है, और ऐसी कोई चीज नहीं रह गई है, जिसको लेकर मैं जी सकूं।

---

1. देसियातना लगभग पौने तीन एकड़ के होता है।
2-3. प्रसिद्ध रूसी लेखक। 4 प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार।
5. मशहूर फ्रांसीसी हास्य नाट्य-लेखक।

: 4 :

मेरी जीवन की गति रुक गई। मैं सांस लेता, खाता-पीता और सोता था। इन कामों को करने के लिए मैं मजबूर था; लेकिन जीवन नहीं रह गया था; क्योंकि ऐसी कामनाएं नहीं रह गई थीं, जिन्हें पूरा करना मैं उचित समझता होऊं। अगर किसी चीज की कामना होती तो भी मैं पहले से ही समझ जाता था कि चाहे मैं उसे पूरा करूं या न करूं, इससे कुछ होने-जाने वाला नहीं है।

इस समय अगर कोई परी मेरे पास आकर वरदान मांगने को कहती तो मुझे समझ में न आता कि उससे क्या मांगना चाहिए। यदि कभी-कभी नशे की घड़ियों में मैं कोई ऐसी चीज महसूस करता था जो इच्छा तो नहीं, हां, पहले की इच्छाओं की वजह से पड़ी आदत होती थी, तो चित्त शांत और स्वस्थ होने पर मैं समझ जाता था कि यह धोखा है और यह दरअसल इच्छा करने लायक कोई चीज नहीं है। मैं सत्य को जानने की इच्छा भी नहीं कर पाता था, क्योंकि मैं कल्पना कर चुका था कि सत्य क्या है। सत्य यह था कि जीवन निरर्थक है। मैं एक प्रकार से तब तक जिन्दगी बसर करता चला गया था जब तक ढाल के ऊपर नहीं पहुंच गया और साफ़-साफ़ यह देख नहीं लिया कि मेरे आगे विनाश के सिवाय कुछ नहीं है। ठहरना या पीछे लौट जाना नामुमकिन था; पर अपनी आंखों को बन्द कर लेना या इस बात को न देखना भी नामुमकिन था कि कष्ट और मौत—पूर्ण विनाश के सिवाय अब मेरे आगे कुछ नहीं है।

हालत यह हो गई थी कि मैं एक स्वस्थ और भाग्यवान आदमी अनुभव करता था कि अब मैं जी नहीं सकता, कोई अप्रतिहत शक्ति येनकेन जीवन से छुटकारा पाने के लिए मुझे धकेल रही है। मैं यह तो नहीं कर सकता कि मैं अपनी हत्या करना चाहता था। जो शक्ति मुझे जीवन से दूर धकेल रही थी, वह किसी कामना से कहीं अधिक बलवान, पूर्ण और विस्तृत थी। यह उस शक्ति से मिलती-जुलती थी, जो पहले मुझे एक अलग दिशा में जीने के लिए प्रेरित करती थी। मेरी सारी शक्ति मुझे

जीवन से दूर लिये जा रही थी। जैसे पहले अपना जीवन सुधारने और विकसित करने के विचार स्वभावत: मेरे मन में आते थे वैसे ही आत्म विनाश का विचार भी मेरे मन में उदित हुआ। और यह विचार कुछ ऐसा लुभावना था कि मुझे अपने साथ जबरदस्ती करनी पड़ी कि कहीं मैं जल्दबाजी में कुछ कर न बैठूं। मैं जल्दबाजी नहीं करना चाहता था, क्योंकि मैं जाल से निकलने की पूरी कोशिश कर लेना चाहता था। 'अगर मैं मामलों को सुलझा नहीं सकता तो भी इसके लिए सदा समय रहेगा।' उसी समय, इसे भाग्य की अनुकूलता कहनी चाहिए, मैंने अपने कमरे की रस्सी पास से हटा दी। यह रस्सी परदा डालकर, कमरे का एक हिस्सा अलग करने के लिए टंगी थी, जिसके पीछे रोज रात में मैं अपने कपड़े उतारता था। मुझे डर पैदा हो गया था कि कहीं मैं इस रस्सी से फांसी न लगा लूँ। मैंने बन्दूक लेकर बाहर शिकार के लिए जाना बन्द कर दिया कि कहीं आसानी से मैं अपनी जीवन-लीला समाप्त न कर बैठूं। मैं खुद नहीं जानता था कि मैं चाहता क्या हूं, मैं जीवन से भय खाता था, उससे भागना चाहता था, फिर भी उससे कुछ-न-कुछ आशा मुझे लगी हुई थी।

और मेरी यह हालत उस समय हो रही थी जब मैं चारों ओर वैभव से घिरा हुआ था। अभी मेरी उम्र पचास की भी नहीं थी, मेरी पत्नी बड़ी नेक थी, वह मुझे प्यार करती थी और मैं उसे प्यार करता था। मेरे बच्चे अच्छे थे, मेरे पास एक बड़ी जमींदारी थी जो मेरे कुछ ज्यादा मेहनत किए वगैर बढ़ती जा रही थी। मेरे रिश्तेदार और परिचित लोग मेरा जितना आदर उस समय करते थे उतना पहले कभी नहीं करते थे। दूसरे लोग भी मेरी प्रशंसा करते थे और अधिक आत्मवंचना के बिना मैं सोच सकता था कि मेरा नाम प्रसिद्ध हो गया है। और पागल या मानसिक दृष्टि से अस्वस्थ होना तो दूर रहा, इस समय मेरे शरीर और मस्तिष्क में इतनी शक्ति थी जितनी मेरे दर्जे के आदमियों में शायद ही कभी पाई जाती है। शरीर की दृष्टि मैं किसानों के बराबर कटाई का काम कर सकता था और मानसिक दृष्टि से मैं लगातार 8 से 10 घण्टे तक, बिना थकावट या बुरे

असर के, काम में लगा रह सकता था। ऐसी हालत में भी मुझे यह मालूम पड़ता था कि मैं जी नहीं सकूँगा और मौत के डर से मैं अपने साथ चालाकियाँ चलता था कि कहीं खुद अपनी जान न ले बैठूं।

मेरी मानसिक स्थिति मेरे सामने कुछ इस तरह आती थी : मेरी जिन्दगी एक मूर्खतापूर्ण और ईर्ष्या से भरी हुई दिल्लगी है, जो किसी ने मेरे साथ की है। यद्यपि मैं अपने को पैदा करने वाले इस 'किसी' को मानता न था, फिर भी इस तरह का विचार स्वभावत: मेरे मन में पैदा होता था कि किसी ने इस दुनिया में लाकर मेरे साथ बुरा और भद्दा मजाक किया है।

बगैर किसी तरह की कोशिश के मेरे अन्दर यह ख्याल पैदा हुआ कि कहीं-न-कहीं कोई ऐसा जरूर है, जो यह देखकर हँस रहा है कि मैं तीस या चालीस सालों तक कैसे रहता रहा हूं; किस तरह मैं शरीर और मस्तिष्क से प्रौढ़ होता, सोचता एवं विकसित होता रहा हूं—और प्रौढ़ मानसिक शक्तियों के साथ जीवन की उस चोटी पर पहुंचकर जहाँ सब चीजें मेरे सामने पड़ी दिखाई देती हैं, मैं महामूर्ख की तरह खड़ा होता हूं और साफ देख रहा हूं कि जीवन में कुछ नहीं है, न कुछ रहा है और न कुछ रहेगा। और वह हँस रहा है।

लेकिन मुझ पर हँसनेवाला 'वह कोई' हो या न हो, मेरी हालत तो खराब ही थी। मैं अपने किसी काम या सम्पूर्ण जीवन का कोई उचित अर्थ ढूंढ नहीं पाता था। मुझे इस पर ताज्जुब हुआ कि मैंने शुरू से इस बात की जानकारी से अपने को अलग रखा—यह बहुत दिनों से सबको मालूम ही है कि प्रियजनों की अथवा मेरी आज या कल बीमारी और मौत आएगी ही (वे दोनों आ ही चुकी थीं), बदबू और कीड़ों के अलावा कुछ बाकी न रह जाएगा। शीघ्र या कुछ देर से मेरी बातें लोग भूल जाएँगे और मेरा अस्तित्व न रह जाएगा। तब चेष्टा करने से लाभ क्या?...मनुष्य को यह बात कैसे नहीं दिखाई पड़ती है? कैसे वह जिंदगी बसर करता जाता है? यह अचंभे की बात है! कोई तभी तक जी सकता है जब तक वह

जीवन से मतवाला हो; ज्यों ही वह शांत और संयमी हुआ उसका यह न देखना नामुमकिन हो जाता है। सब-कुछ धोखा और मूर्खतापूर्ण प्रवंचना है! बात ठीक ऐसी ही है, इसमें हँसी या मनोरंजन की कोई बात नहीं है; जीवन निर्दय और मूर्खतापूर्ण है।

पूरब की एक बड़ी पुरानी कहानी है। एक मुसाफिर रास्ते से कहीं जा रहा था। एक मैदान में उसकी किसी क्रुद्ध जंगली जानवर से भेंट हो गई। वह मुसाफिर जानवर से भागकर पास के सूखे कुएँ में घुस गया। पर जब उसने नीचे नजर डाली तो देखता क्या है कि एक अजगर उसे निगलने के लिए मुँह खोले हुए है। अब वह अभागा आदमी न तो जानवर के डर से कुएं के बाहर ही आने की हिम्मत करता है और न अजगर के डर से कुएं के अंदर ही कूदने का साहस करता है। बचने के लिए वह कुएं की एक दरार में निकली हुई टहनी पकड़कर लटक जाता है। उसके हाथ शिथिल होते जा रहे हैं और वह महसूस करता है कि जल्द ही उसे अपने को ऊपर या नीचे मौत के हाथ में सौंपना पड़ेगा। फिर भी वह लटका ही रहता है। इतने में वह देखता क्या है कि दो चूहे—एक सफेद और एक काला—बार-बार उस टहनी की जड़ के इर्द-गिर्द घूमते हुए उसे काट रहे हैं। जल्द ही टहनी टूट जाएगी और उसे अजगर के मुँह में समा जाना होगा। मुसाफिर यह सब देखता है और जान लेता है कि उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। इसी बीच लटके-ही-लटके वह अपने चारों तरफ दृष्टि डालता है और देखता क्या है कि टहनीकी पत्तियों पर शहद की कुछ बूँदें पड़ी हुई हैं, वह झुककर जबान से उन्हें चाट लेता है। यही हालत मेरी है। मैं भी यह जानते हुए कि मौत का अजदहा टुकड़े-टुकड़े कर देने के लिए मेरी बाट जोह रहा है, मैं जीवन की टहनी पकड़े हुए हूं और समझ में नहीं आता कि क्यों ऐसी यातना भोग रहा हूं। मैंने शहद चाटने कोशिश की, जिससे पहले मुझे कुछ शांति मिली, पर अब शहर चाटने से सुख नहीं मिलता था, और दिन और रात-रूपी सफेद और काले चूहे जिंदगी की उस टहनी को बराबर काट रहे थे, जिसे मैं पकड़े हुए था। मैंने साफ-

साफ अजदहे को देख लिया था और अब शहद मीठा नहीं लगता था। मैं सिर्फ अजदहे और चूहों को देख रहा था और उस ओर से अपनी दृष्टि हटा नहीं पाता था। यह कोई कहानी नहीं, बल्कि एक ऐसी वास्तविक सच्चाई है, जिसका जवाब नहीं और जो सबकी समझ में आ सकती है।

जीवन के आनंद की वंचनाएं, जो मेरे अजदहे के भय को दबा रखती थीं, अब मुझे धोखा देने में असमर्थ थीं। चाहे मुझसे कितनी ही बार कहा जाए कि—'तुम जीवन का अर्थ नहीं समझ सकते, इसलिए उसके बारे में कुछ मत सोचो और जिओ', पर मैं अब ऐसा नहीं कर सकता; मैंने काफी अरसे तक यही किया है। अब मैं दिन-रात को चक्कर काटते और मेरी मौत को नजदीक लाते देख रहा हूं और इससे आंख मूँदने में मैं असमर्थ हूं। मैं इतना ही देख पाता हूं; क्योंकि इतना ही सत्य है; बाकी सब झूठ है।

शहद की जिन दो बूँदों ने औरों की अपेक्षा अधिक दिन तक इस निष्ठुर सत्य से मेरी आंखों को दूर रखा, उनमें—कुटुम्ब तथा लेखन-कार्य पर मेरी आसक्ति, जिसे मैं कला के नाम से पुकारता था—अब मिठास नहीं मालूम पड़ती थी।

'कुटम्ब'...मैंने अपने मन में कहा। पर मेरा कुटुम्ब—पत्नी और बच्चे—भी तो मनुष्य हैं। उनकी भी वही स्थिति है जो मेरी है, उनको भी या तो झूठ के बीच रहना है या फिर भयंकर सत्य को देख लेना है। वे क्यों जियें? मैं उन्हें क्यों प्यार करूँ? क्यों उनकी रक्षा करूं? और क्यों उनका पालन-पोषण या देख-रेख करूं? इसलिए कि वे मेरी तरह निराशा का अनुभव करें या फिर मूर्खता में पड़े रहें? जब मैं उन्हें प्यार करता हूं तब उनसे सत्य को कैसे छिपा सकता हूं? और ज्ञान का प्रत्येक पग उनको सत्य के निकट ले जाता है। वह सत्य मौत है।

'कला, कविता?'—सफलता और लोगों की प्रशंसा के कारण मैंने बहुत दिनों तक अपने दिल को समझा रखा था कि यह ऐसी चीज है जिसे आदमी करता रह सकता है—यद्यपि मौत नजदीक आती जा रही थी—

वह मौत जो सब चीजों को नष्ट कर देती है, जो मेरी रचना और उसकी याद को भी नष्ट कर देगी। लेकिन जल्द ही मैंने देख लिया कि यह भी एक धोखा ही है। मुझे स्पष्ट था कि कला जीवन का आभूषण है, जीवन का प्रलोभन है। लेकिन मेरे लिए जीवन का आकर्षण दूर हो चुका था; तब दूसरों को मैं कैसे आकर्षित करता? जब तक मैं स्वयं अपना जीवन नहीं बिताता था, बल्कि किसी दूसरे के जीवन की लहरों पर बह रहा था—जब तक मेरा विश्वास था कि जीवन के कुछ अर्थ हैं, फिर चाहे उसे मैं व्यक्त न कर सकूं—तब तक कविता और कला में जीवन की छाया पाकर मुझे प्रसन्नता होती थी; कला के दर्पण से जीवन का दर्शन करना अच्छा लगता था। लेकिन जब मैंने जीवन का अर्थ जानने की चेष्टा आरम्भ की और मुझे स्वयं अपना जीवन बिताने की आवश्यकता अनुभव हुई, तब वह दर्पण मेरे लिए अनावश्यक, व्यर्थ, हास्यास्पद और दुःखदायी हो गया : दर्पण में अब मुझे दीखता था कि मेरी स्थिति मूर्खतापूर्ण तथा नैराश्यपूर्ण है, इससे मुझे शांति नहीं मिलती थी। जब मैं अपनी अंतरात्मा की गहराई से विश्वास करता था कि जीवन का कुछ अर्थ है तब दृश्य देखने में सुहावना था। उस समय जीवन में अंधकार और प्रकाश के खेलों—हास्य, दुखांत, करुण, सुन्दर और भयंकर—से मेरा मनोरंजन होता था। पर जब मैं जान गया कि जीवन निरर्थक और भयंकर है, तब दर्पण में अंधकार और प्रकाश के खेल मेरा मनोरंजक न कर सकते थे; जब मैंने अजदहे को देख लिया और यह भी देख लिया कि मैं जिस चीज़ का सहारा लिये हुए हूं उसे चूहे काट रहे हैं, तब शहद की कोई मिठास मुझे कैसे मीठी लग सकती थी?

बात यहीं तक न थी। यदि मैंने केवल इतना ही समझा होता कि जीवन के कोई अर्थ नहीं हैं तो मैं यह मानकर कि मेरे भाग्य में यही था, सब कुछ शांति से सहन कर लेता। लेकिन मैं अपने को इतने से ही संतुष्ट न कर सका। अगर मैं जंगल में रहनेवाले उस आदमी की तरह होता जो जानता है कि इससे निकलने का कोई रास्ता नहीं है तो मैं जी सकता था;

पर मेरी दशा तो उस आदमी की तरह थी जो जंगल में रास्ता भूल जाने के कारण भयभीत होकर, रास्ता ढूंढ़ने के लिए, इधर-उधर दौड़ता-फिरता हो। वह जानता है कि हरेक कदम उसे ज्यादा उलझन में डाल रहा है, फिर भी वह दौड़ना नहीं बन्द करता।

निश्चय ही यह भयंकर अवस्था थी और भय से बचने के लिए मैं खुद अपने को मार डालना चाहता था। आगे मेरा क्या होनेवाला है, इसका खौफ भी मैं महसूस करता था और जानता था कि यह भय मेरी मौजूदा हालत से भी कहीं खराब है। इतने पर भी मैं शान्तिपूर्वक अपनी मृत्यु की प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। चाहे यह तर्क कितना ही विश्वसनीय लगता रहा हो कि किसी दिन हृदय की कोई शिरा या और कोई चीज़ फट पड़ेगी और सब-कुछ समाप्त हो जाएगा; पर मैं शान्ति के साथ उस दिन की बाट जोहने में असमर्थ था। अंधकार का भय बहुत अधिक था और मैं गले में फाँसी डालकर या गोली मारकर, मतलब किसी तरह जल्दी-जल्दी जिंदगी से छूटना चाहता था। यही भावना बड़े जोरों से मुझे आत्म-हत्या की ओर ले जा रही थी।

: 5 :

'लेकिन शायद मैंने कोई चीज़ नजर-अंदाज कर दी है या समझने में मुझसे गलती हो गई है?' मैं कई बार अपने से कहा करता—'यह तो नहीं हो सकता कि निराशा की यह हालत मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो।' तब मैंने मानव-संचित ज्ञान की विविध शाखाओं में इन समस्याओं का हल ढूँढ़ने की कोशिश की। व्यर्थ की उत्कंठा से या उदासीनता के साथ मैंने यह खोज नहीं की, बल्कि कष्ट उठाकर लगातार रात-दिन उसकी खोज में लग गया, जैसे कोई डूबता हुआ आदमी अपनी रक्षा के लिए कोशिश करता है। लेकिन मुझे कुछ नहीं मिला।

मैंने सभी विज्ञानों में इन समस्याओं का हल खोजा; पर जो कुछ मैं खोजता था उसे पाना तो दूर रहा, उल्टे मुझे विश्वास हो गया कि मेरी तरह

जितने लोगों ने भी ज्ञान-मार्ग से जीवन का अर्थ जानने की कोशिश की है उनको कुछ नहीं मिला है। सिर्फ इतना ही नहीं कि उनको कुछ न मिला हो; बल्कि उनको साफ-साफ कहना पड़ा कि जिस चीज़—यानी जीवन की निरर्थकता—ने मुझको इतना निराश कर रखा है, वही एक ऐसी असंदिग्ध बात है जिसे आदमी जान सकता है।

मैंने सभी जगह खोजा; और चूंकि मेरा जीवन ज्ञान की साधना में ही बीता था और विद्वानों की दुनिया से मेरा संबंध था, इस कारण ज्ञान की सभी शाखाओं में वैज्ञानिकों और विद्वानों तक मेरी पहुंच थी। उन्होंने बड़ी खुशी के साथ अपना सारा ज्ञान न केवल पुस्तकों से, बल्कि वार्त्तालाप से भी, मुझे सुगम कर दिया, जिससे विज्ञान जीवन के प्रश्न पर जो कुछ कहता था उस सबकी जानकारी मुझे हो गई।

बहुत दिनों तक मैं विश्वास करने में असमर्थ रहा कि यह ज्ञान (विज्ञान) जीवन के प्रश्नों का जो जवाब देता है उसके अलावा दूसरा कोई जवाब नहीं दे सकता। मैंने देखा कि विज्ञान अपनी महत्त्वपूर्ण और गंभीर मुद्रा के साथ अपने उन नतीजों या परिणामों का ऐलान करता है, जिनका मनुष्य-जीवन के वास्तविक प्रश्नों से कोई संबंध नहीं, और बहुत दिनों तक मैं यही समझता रहा कि इसमें कोई ऐसी बात जरूर है जिसे मैं नहीं समझ पाया हूं। बहुत दिनों तक मैं विज्ञान के सामने भीरु बना रहा और मुझे ऐसा मालूम होता रहा कि जवाबों और मेरे सवालों के बीच के एकरूपता का भाव विज्ञान के दोष के कारण नहीं है; बल्कि मेरी नादानी के कारण है। लेकिन मेरे लिए यह कोई खेल या मनोरंजन का विषय नहीं था, बल्कि जीवन और मृत्यु का प्रश्न था, और मैं इस निश्चय पर पहुंचा कि मेरे प्रश्न जीवन के वास्तविक प्रश्न हैं और वे सारे ज्ञान के आधार हैं, और दोष मेरे प्रश्नों का नहीं, बल्कि विज्ञान का होना चाहिए, यदि वह इन प्रश्नों का उत्तर देने का स्वांग भरता है।

मेरा प्रश्न—जिसने 50 साल की उम्र में मुझे आत्म-हत्या के निकट पहुंचा दिया—एक बहुत ही सीधा और सरल प्रश्न था, जो मूर्ख बच्चे से

लेकर एक बड़े बुद्धिमान प्रौढ़ व्यक्ति तक की आत्मा में उठा करता है। यह एक ऐसा प्रश्न था जिसका जवाब दिए बगैर कोई जी नहीं सकता जैसा कि मैंने अनुभव से समझा है। प्रश्न यह था : "मैं आज जो कुछ कर रहा हूं या कल जो कुछ करूंगा, उसका नतीजा क्या निकलेगा—मेरे सारे जीवन का क्या नतीजा निकलेगा?"

दूसरी तरह से कहा जाए तो इस प्रश्न का यह रूप होगा : "मैं क्यों जिऊं? क्यों किसी चीज की इच्छा करूं? क्यों कोई काम करूं?" इसे यों भी व्यक्त किया जा सकता है : "क्या मेरे जीवन का कोई ऐसा तात्पर्य है कि मेरी बाट जोहती हुई अनिवार्य मृत्यु से भी उसका नाश न होगा?"

कई तरह से व्यक्त किए जानेवाले इस प्रश्न का उत्तर मैंने विज्ञान से जानना चाहा और मुझे पता चला कि इस प्रश्न के संबंध में मनुष्य का सारा ज्ञान दो विरोधी गोलार्द्धों में बंटा हुआ है, जिनको दोनों सिरों पर दो ध्रुव हैं—एक निषेधात्मक और दूसरा निश्चयात्मक। लेकिन न तो पहले और न दूसरे ध्रुव पर जीवन के प्रश्न का उत्तर मिलता है।

विज्ञान का एक दूसरा वर्ग, मालूम पड़ता है, यह प्रश्न स्वीकार नहीं करता; पर अपने स्वतंत्र प्रश्नों का स्पष्ट और ठीक-ठीक उत्तर देता है। मेरा मतलब प्रयोगात्मक विज्ञानों से है, जिनके अंतिम छोर पर गणित है। विज्ञान का एक दूसरा वर्ग इस प्रश्न को स्वीकार करता है; लेकिन इसका उत्तर नहीं देता; यह निगूढ़ विज्ञानों का वर्ग है और इनके अंतिम छोर पर अध्यात्म-विज्ञान है।

शुरू जवानी से ही निगूढ़ विज्ञानों में मेरी दिलचस्पी थी; लेकिन बाद में गणित एवं प्राकृतिक विज्ञानों की ओर मेरा आकर्षण हो गया, और जब तक मैंने निश्चित रूप से अपना प्रश्न अपने सम्मुख नहीं रखा, और जब तक वह प्रश्न स्वयं मेरे अंदर पल्लवित होकर मुझे तुरन्त जवाब देने के लिए विवश नहीं करने लगा तब तक मैंने उन नकली जवाबों पर ही संतोष किया, जो विज्ञान देता है।

प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र में अपने से तो मैंने यह कहा—'प्रत्येक

वस्तु जटिलता और पूर्णता की तरफ बढ़ती हुई स्वयं विकसित होती और विशेषता प्राप्त करती है और कुछ नियम उसकी इस गति का नियंत्रण करते हैं। तुम संपूर्ण के एक अंश हो। जहां तक जानना संभव है वहां तक संपूर्ण को जान लेने और विकास के नियम का परिचय प्राप्त कर लेने पर तुमको संपूर्ण के बीच अपने स्थान का पता भी चल जाएगा।' मुझे कहते हुए लज्जा होती है कि एक ऐसा समय था जब मैं इस उत्तर से संतुष्ट दीखता था। यह वही समय था जब मैं स्वयं अधिक जटिल बनता जा रहा था और विकसित हो रहा था। मेरी मांस-पेशियां विकसित और दृढ़ हो रही थीं, मेरी स्मरण-शक्ति, समझने-सोचने की शक्ति, बढ़ रही थी; और अपने अंदर इस विकास का अनुभव करते हुए मेरे लिए यह सोचना स्वाभाविक था कि जगत का नियम ऐसा ही है और इसी में मुझे अपने जीवन के प्रश्न का हल ढूंढ़ना चाहिए। लेकिन एक ऐसा समय आया जब मेरे अंदर का विकास रुक गया। मैंने अनुभव किया कि मेरा विकास नहीं हो रहा है; बल्कि मैं मुरझा रहा हूं, मेरी मांस-पेशियां कमजोर होती जाती हैं, मेरे दांत गिरते जाते हैं, और मैंने देखा कि नियम से न केवल कोई बात समझ में नहीं आती, बल्कि ऐसा नियम न तो कभी था, न कभी हो सकता है और मैंने अपने जीवन की एक अवस्था में अपने अंदर जो कुछ पाया उसे ही नियम मान लिया था। अब मैंने इस नियम की परिभाषा पर विचार करना शुरू किया तो मेरे सामने यह बात स्पष्ट हो गई कि इस तरह अनंत विकास का कोई नियम नहीं हो सकता। यह स्पष्ट हो गया कि यह कहना कि 'असीम अवकाश और समय में प्रत्येक वस्तु विकसित होती है, अधिक पूर्ण और जटिल होती है तथा विशेषता प्राप्त करती है', मानो कुछ न कहने के बराबर है। ये शब्द बेमानी हैं; क्योंकि असीम में न कुछ जटिल है, न आगे बढ़ना है, न पीछे हटना है, न अच्छा है, न बुरा।

फिर इन सबके ऊपर मेरा निजी-सवाल कि मैं 'अपनी इच्छाओं के साथ क्या हूं?' अनुत्तरित ही रहा। मैं समझ गया कि वे सब विज्ञान बड़े दिलचस्प हैं, बड़े आकर्षक हैं; पर जीवन के प्रश्न के ऊपर उनके प्रयोग

का जहां तक सवाल है वे उल्टी दिशा में ही ठीक और स्पष्ट हैं। जीवन के प्रश्न पर उनकी संगति जितनी ही कम बैठती है उतने ही यथार्थ और स्पष्ट वे हैं। वे जीवन के प्रश्न का उत्तर देने की जितनी ही कोशिश करते हैं, उतने ही और आकर्षण-हीन होते जाते हैं। अगर कोई विज्ञानों के उस विभाग की तरफ ध्यान दे जो जीवन के प्रश्न का उत्तर देने की कोशिश करता है (इस विभाग में शरीर-विज्ञान मनोविज्ञान, जीव-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि हैं) तो वहां उसे विचारों की आश्चर्यजनक दीनता, सबसे अधिक अस्पष्टता, अप्रासंगिक प्रश्नों को हल करने का एक बिल्कुल अनुचित और झूठा दावा तथा हरेक आचार्य द्वारा दूसरे का, और अपने द्वारा अपनी ही बातों का भी, निरंतर खंडन होताा दिखाई देगा। अगर हम उन विज्ञानों की तरफ देखते हैं, जिनका जीवन के प्रश्नों का हल करने से कोई संबंध नहीं है, पर जो स्वयं अपने विशेष वैज्ञानिक प्रश्नों का जवाब देते है; तो इंसान की दिमागी ताकत तो देखकर मुग्ध हो जाना पड़ता है; पर हम पहले से ही जान चुके होते हैं कि वे जीवन के प्रश्नों का कोई जवाब नहीं देते। वे तो जीवन के प्रश्नों की उपेक्षा करते हैं। उनका कहना है, 'तुम क्या हो और क्यों जीते हो इस प्रश्न का न तो हमारे पास जवाब है और न उसके बारे में हम सोचते हैं। हाँ, अगर तुम प्रकाश और रासायनिक मिश्रणों के नियमों को जाना चाहो, अगर तुम चेतन पदार्थों के विकास के नियमों से अवगत होना चाहो, अगर तुम देह और उसके रूप के नियमों की जानकारी हासिल करना चाहो, अगर तुम गुण और परिमाण का संबंध जानना चाहो, अगर तुम अपने मस्तिष्क के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो इन सबके हमारे पास स्पष्ट, यथार्थ और निर्विवाद उत्तर मौजूद हैं।'

साधारण ढंग से कहना चाहें तो जीवन के प्रश्नों के साथ प्रयोगात्मक विज्ञान के सम्बन्ध को यों व्यक्त किया जा सकता है :

प्रश्न—'हम क्यों जी रहे हैं?'

उत्तर—'अनंत अवकाश और अनंत काल में अत्यन्त क्षुद्र अंश

अनंत जटिल रूपों को ग्रहण करते हैं। जब तुम इस रूप परिवर्तन के नियमों को समझ लोगे, तब तुम यह भी जान जाओगे कि पृथ्वी पर क्यों रह रहे हैं।'

इसके बाद मैंने निगूढ़ विज्ञान के क्षेत्र में अपने से कहा—'संपूर्ण मानवता आध्यात्मिक सिद्धांतों और आदर्शों के आधार पर जीती और विकसित होती है। वही सिद्धांत और आदर्श उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं। ये आदर्श धर्म, विज्ञान, कला और और शासन-पद्धति में व्यक्त होते हैं। ये आदर्श दिन-दिन ऊंचे होते जाते है और मानवता अपने सर्वोच्च कल्याण की ओर बढ़ती जाती है। मैं मनुष्यता का अंश हूं, इसलिए मेरा धंधा मानवता के आदर्शों की स्वीकृति और साधनों को आगे बढ़ाना है।' और अपनी मानसिक दुर्बलता के जमाने में इस उत्तर से संतुष्ट था; पर ज्यों ही जीवन का प्रश्न मेरे सामने स्पष्ट रूप में आया, ये विचार तुरन्त टुकड़े-टुकड़े होकर खत्म हो गए। जिस सिद्धांत-हीन दुर्बोधता के साथ ये विज्ञान मनुष्य-जाति के एक छोटे हिस्से पर किए गए अध्ययन के बल पर स्थापित परिणामों को सामान्य परिणामों के रूप में व्यक्त करते हैं, जिस प्रकार मनुष्यता के आदर्शों के विषय में इसके विभिन्न अनुयायी एक दूसरे के मन का खंडन करते हैं, इन बातों का छोड़ भी दें तो भी इस विचार-धारा में यदि मूर्खता नहीं तो आश्चर्य यह है कि हर आदमी के सामने आने वाले प्रश्नों—'मैं क्या हूं?' या 'मैं क्यों जीता हूं?' या 'मुझे क्या करना चाहिए?' का जवाब देने के लिए पहले इस प्रश्न का जवाब ढूँढ़ना जरूरी समझा जाता है कि 'समष्टि का जीवन क्या है?' (और यही उसके लिए अज्ञात है और समय की एक अत्यंत क्षुद्र अवधि में वह इसके एक अत्यंत क्षुद्र अंश से परिचित है)। इस मत से यह जानने के लिए कि वह क्या है, मनुष्य को पहले सारी रहस्मयी मानवमाजाति की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए—उस मानव-जातिकी, जिसमें उसी की तरह अगणित आदमी हैं, जो एक-दूसरे को नहीं जानते-बूझते।

मैं स्वीकार करता हूं कि ऐसा भी एक जमाना था जब मैं इन बातों में

विश्वास करता था। यह वही जमाना था जब अपनी सनकों को उचित ठहरानेवाले कुछ प्रिय आदर्श मैंने बना रखे थे और एक ऐसे सिद्धांत का निर्माण करने का मैं प्रयत्न कर रहा था जिससे मेरी सनकों को ही मानवता का नियम माना जा सके। लेकिन ज्यों ही मेरी आत्मा में जीवन का प्रश्न पूरी स्पष्टता के साथ उदित हुआ, ज्यों ही यह जवाब मिट्टी में मिल गया और मैंने समझ लिया कि जैसे प्रयोगात्मक विज्ञानों में ऐसे सच्चे विज्ञान और अधूरे विज्ञान हैं, जो अपनी शक्ति और योग्यता के बाहर के सवालों का जवाब देने की कोशिश करते हैं, उसी तरह इस क्षेत्र में भी ऐसे मिश्र विज्ञानों का एक पूरा वर्ग है, जो अप्रासंगिक प्रश्नों का जवाब देने की कोशिश करता है। इस तरह के अधूरे विज्ञान, न्याय-विधान और सामाजिक-ऐतिहासिक विज्ञान, अपने-अपने ढंग पर, संपूर्ण मानवता के जीवन के प्रश्नों को हल करने का बहाना करते हुए मनुष्य के जीवन के प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करते हैं।

पर जिस प्रकार मनुष्य के प्रयोगात्मक ज्ञान के क्षेत्र में जो व्यक्ति सच्चाई के साथ शोध करता है कि उसे किस तरह जीवन बिताना चाहिए और उसे इस उत्तर से संतोष नहीं हो सकता कि—"असीम अवकाश में असंख्य अणुओं के अनंत काल के बीच असीम जटिल परिवर्तनों का अध्ययन करो, तब तुम जीवन को समझ सकोगे', उसी प्रकार एक ईमानदार आदमी इस उत्तर से भी संतुष्ट नहीं हो सकता कि—'मानव-जाति के संपूर्ण जीवन का अध्ययन करो, जिसके आदि-अंत तक का हमें पता नहीं है, जिसके एक अंश तक का हमें ज्ञान नहीं है, और तब तुम अपने जीवन को समझ सकोगे।' प्रयोगात्मक अधूरे विज्ञानों की तरह से अन्य अधूरे विज्ञान भी अस्पष्टताओं, अयथार्थताओं, मूर्खताओं और पारस्परिक विरोधों से पूर्ण है। प्रयोगात्मक विज्ञान की समस्या तो भौतिक व्यापार में कार्य- कारण के अनुक्रम की समस्या है। पर प्रयोगात्मक विज्ञान में ज्यों ही एक अन्तिम कारण का प्रश्न उपस्थित किया जाता है त्यों ही वह मूर्खतापूर्ण हो जाता है। निगूढ़ विज्ञान की समस्या जीवन के

मूलतत्त्व की स्वीकृति की समस्या है। ज्यों ही पारस्परिक व्यापार (जैसे सामाजिक और ऐतिहासिक व्यापार) की खोज आरम्भ होती है; यह भी मूर्खतापूर्ण बन जाता है।

प्रयोगात्मक विज्ञान जब अपने शोध में अन्तिम कारण का प्रश्न नहीं उठाता तभी निश्चयात्मक उत्तर देता और मानव-मस्तिष्क की महानता प्रकट करता है। इसके विपरीत निगूढ़ विज्ञान जब दृश्य व्यापार के पारस्परिक कारणों से संबंध रखनेवाले सवालों को किनारे रख देता है और मनुष्य का अन्तिम कारण के संबंध से अध्ययन करता है, तभी वह विज्ञान होता है और मानवीय मस्तिष्क की महानता का प्रदर्शन करता है। विज्ञान के इस राज्य में गोलक के ध्रुव रूप में, अध्यात्म-विद्या या तत्त्व-दर्शन हैं। यह विज्ञान इस प्रश्न का स्पष्ट वर्णन करता है कि 'मैं क्या हूं और जगत् क्या है। मेरा अस्तित्व क्यों है और जगत् का अस्तित्व क्यों है?' जब से इसका अस्तित्व है यह एक ही तरह का उत्तर देता रहा है। चाहे दर्शन-शास्त्री मेरे अन्दर मौजूद जीवनतत्त्व को, या अन्य सब चीजों के अन्दर के जीवन-सार को, 'धारणा', 'सार', 'भावना' (स्पिरिट) अथवा 'संकल्प शक्ति' के नाम से पुकारे, असल में वह एक ही बात कहता है : 'यह तत्त्व मौजूद है और मैं उसी तत्त्व से बना हूं; पर यह तत्त्व क्यों मौजूद है, इसे वह नहीं जानता और अगर वह सच्चा चिंतक है तो ऐसा कहता भी नहीं। मैं पूछता हूं कि 'यह तत्त्व मौजूद ही क्यों रहे? यह है और रहेगा। इससे नतीजा क्या निकलता है?'... दर्शन न केवल इसका कोई उत्तर नहीं देता, बल्कि यह स्वयं यही प्रश्न पूछता रहता है। और अगर वह सच्चा दर्शन है तो उसकी सारी चेष्टा इस प्रश्न को स्पष्टतापूर्वक रखने तक ही है। अगर वह दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्य पर डटा रहे तो सवाल का जवाब सिर्फ इसी तरह देगा—'मैं क्या हूं और जगत क्या है?' सब कुछ और कुछ भी नहीं।' इसी तरह वह 'क्यों' के जवाब में कहेगा—'मैं नहीं जानता'।

इस तरह मैं दर्शन-शास्त्र के इन जवाबों को चाहे जिस तरह उलटूं-पलटूं, मुझे उनसे जवाब-जैसी कोई चीज कभी हासिल नहीं हो सकती—

इसलिए नहीं कि प्रयोगात्मक विज्ञान के क्षेत्र की तरह उत्तर का मेरे सवाल से कोई संबंध नहीं, बल्कि इसलिए कि संपूर्ण शास्त्र की गति मेरे सवाल की ओर होते हुए भी उसका कोई उत्तर नहीं है और उत्तर की जगह वही सवाल हमें एक जटिल रूप में सुनाई पड़ता है।

: 6 :

जीवन के प्रश्नों के उत्तर की खोज में मुझे ठीक वही अनुभव हुआ, जो जंगल में रास्ता भूल जानेवाले आदमी को होता है।

वह जंगल के बीच की खुली जमीन में पहुंचता है, किसी वृक्ष पर चढ़ जाता है और उसे असीम दूरी तक दिखाई देता है; पर वह देखता है कि उसका घर उधर नहीं है, न हो सकता। तब वह फिर घने जंगल में घुस जाता है। यहाँ उसे अंधेरा दिखता है, पर घर वहां भी नहीं है।

इसी तरहँ मैं मानवीय ज्ञान के जंगल में भटकता रहा। गणित तथा प्रयोगात्मक विज्ञानों की किरणों में मुझे क्षितिज तो साफ-साफ दिखाई देता था; पर उस दिशा में घर नहीं हो सकता था। तब मैं निगूढ़ विज्ञानों के अन्धकार में घुस जाता। मैं जितना ही आगे बढ़ता उतना ही गहरे अन्धकार में धंसता जाता और मुझे विश्वास हो गया कि इससे बाहर निकलने का रास्ता न है, न हो सकता है।

ज्ञान के प्रकाशमान पक्ष की तरफ झुककर मैंने समझा कि मैं केवल प्रश्न से अपना ध्यान हटा रहा हूं। मेरे सामने खुलनेवाला क्षितिज चाहे कितना ही लुभावना क्यों न हो, और उन विज्ञानों के असीम विस्तार में प्रवेश करना चाहे कितना ही आकर्षक क्यों न हो, मैं समझ चुका था कि वे जितने ही स्पष्ट और साफ होते हैं उतने ही मेरे लिए बेकार हैं, और उतना ही मेरे प्रश्न का थोड़ा उत्तर देते हैं।

अब मैंने अपने से कहा—'मैं जानता हूं कि विज्ञान इतनी लगन के साथ किसका शोध करना चाहता है और यह भी जानता हूं कि उस मार्ग पर चलकर मेरे जीवन का क्या प्रयोजन है, इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिल

सकता।' निगूढ़ विज्ञानों के क्षेत्र में मैंने समझा कि यद्यपि विज्ञान का सीधा लक्ष्य मेरे प्रश्न का उत्तर देना है; पर इसके बावजूद भी मेरे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है—सिवाय उस उत्तर के जो मैं स्वयं दे चुका हूं : "मेरे जीवन का अर्थ क्या है?" उत्तर: "कुछ नहीं।" "मेरे जीवन का फल क्या होगा?" उत्तर : "कुछ नहीं।" "जितनी भी चीजें वर्तमान हैं, उनका अस्तित्व क्यों है और मेरा अस्तित्व क्यों है?" उत्तर—"क्योंकि अस्तित्व है।"

ज्ञान के एक क्षेत्र में प्रश्न करने पर मुझे उन बातों के बारे में असंख्य परिमाण में ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त हुए जिनके संबंध में मैंने कुछ नहीं पूछा था—जैसे तारों के रासायनिक उपकरण, हरक्यूलीज नक्षत्र-समूह की ओर सूर्य की गति, प्राणियों एवं मनुष्य की उत्पत्ति, ईथर के अत्यंत सूक्ष्म कणों के रूप के विषय में परन्तु ज्ञान के इस क्षेत्र में मेरे प्रश्न—"मेरे जीवन का तात्पर्य क्या है?"—का केवल यही उत्तर था कि—"तुम वही हो जिसे तुम अपना 'जीवन' कहते हो; तुम कणों के एक आकस्मिक और अनित्य संघटन हो। इन कणों की पारस्परिक अंत:क्रियाएं और तब्दीलियां तुममें वह चीज पैदा करती हैं जिन्हें तुम अपना 'जीवन' कहते हो। यह संघटन कुछ समय तक चलता रहेगा। इसके बाद इन कणों की अंत:क्रियाएं बंद हो जाएंगी और जिसे तुम 'जीवन' कहते हो वह भी बंद हो जाएगा और साथ ही तुम्हारे सब प्रश्नों का भी अंत हो जाएगा। तुम किसी चीज के अकस्मात् जुड़कर बन गए छोटे पिंड हो। इस क्षुद्र पिंड में उबाल आता है। इसी को वह क्षुद्र पिंड अपना 'जीवन' कहता है। पिंड बिखर जाएगा, उबाल समाप्त हो जाएगा और साथ ही सब प्रश्नों का भी अंत हो जाएगा।' विज्ञान का स्पष्ट पहलू इस तरह उत्तर देता है और अगर वह अपने सिद्धान्त पर ठीक-ठीक चले तो इसके सिवाय दूसरा उत्तर दे ही नहीं सकता।

इस तरह के उत्तर से कोई भी आदमी देख सकता है कि इससे प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता। मैं अपने जीवन का तात्पर्य जानना चाहता हूं,

पर ''यह असीम का क्षुद्र अंश है'' इस प्रकार का उत्तर जीवन का कोई अभिप्राय बताने की जगह उसके प्रत्येक संभव तात्पर्य को नष्ट कर देता है। प्रयोगात्मक विज्ञान का यह पक्ष निगूढ़ विज्ञान से जो अस्पष्ट समझौते करता और कहता है कि जीवन का मर्म विकास एवं विकास के साथ सहयोग में निहित है तब इनकी अयथार्थता और स्पष्टता के कारण इन्हें उत्तर नहीं माना जा सकता।

विज्ञान का दूसरा यानी निगूढ़ पक्ष, जब अपने सिद्धांतों कों दृढ़तापूर्वक पकड़कर चलता है और इस प्रश्न का सीधा जवाब देना चाहता है तो वह सदा यह एक ही जवाब एक ही तरह से देता है, सब युगों में देता रहा है :''जगत् असीम और अचिंत्य है।'' मानव-जीवन उस अचिंत्य 'समदृष्टि' का एक अचिंत्य अंश है, फिर मैं निगूढ़ एवं प्रयोगात्मक विज्ञानों के उन सब समझौतों या मिश्रणों को अलग रख देता हूं, जो न्याय, राजनीतिक और ऐतिहासिकँ नामधारी अर्द्ध-विज्ञानों के एक पूरे बोझ की सृष्टि करते हैं। इन अर्द्ध-विज्ञानों में भी विकास और प्रगति की धारणाएं गलत रूप में उपस्थित की जाती हैं, अंतर केवल इतना होता है कि वहां प्रत्येक वस्तु की प्रगति की बात थी और यहां मनुष्य-जाति के जीवन के विकास की बात है। इसमें भी भूल पहले की तरह ही है : असीम में विकास और प्रगति का कोई लक्ष्य नहीं हो सकता, और जहां तक मेरे प्रश्न का संबंध है, कोई जवाब नहीं मिलता।

सच्चे निगूढ़ विज्ञान में यानी सच्चे दर्शन-शास्त्र में (उसमें नहीं जिसे शापनहार पुस्तकीय तत्त्व-ज्ञान कहता और जो सारी मौजूदा चीजों को नये दार्शनिक विभागों में बांटता है और उन्हें नये-नये नामों से पुकारता है) जहां दार्शनिक तात्त्विक प्रश्न की ओर से अपनी दृष्टि नहीं हटाता, एक ही उत्तर मिलता है। यह वही उत्तर है जिसे सकुरात, शापनहार, सोलोमन (सुलेमान) और बुद्ध देते रहे हैं।

सुकरात जब मरने की तैयारी कर रहा था, तब उसने कहा था— ''हम जीवन से जितना ही दूर जाते हैं उतना ही सत्य के निकट पहुंचते हैं;

क्योंकि हम सत्य के प्रेमी जीवन में आखिर किस चीज को पाने का प्रयत्न करते हैं? दैहिक जीवन से पैदा होनेवाली सब बुराइयों तथा स्वयं देह से मुक्ति की ही न? अगर यह बात है तो मौत को पास आई देख हम खुश हुए बिना कैसे रह सकते हैं?

''ज्ञानी पुरुष अपनी सारी जिंदगीभर मृत्यु की साधना करता है इसलिए मृत्यु उसके लिए भयंकर नहीं होती।''

और शापनहार कहता है :

''जगत् की अत्यांतरिक प्रकृति को 'संकल्प' के रूप में पहचान लेने और प्रकृति की अस्पष्ट शक्तियों के अचेतन व्यापार से लेकर मनुष्य के पूर्णतः चैतन्ययुक्त कार्यों तक प्रकृति के संपूर्ण गोचर पदार्थों को केवल उस 'संकल्प' की पादार्थिकता या सरूपता मान लेने पर उसकी शृंखला से हम भाग नहीं सकते और हमको मानना पड़ेगा कि स्वेच्छापूर्वक इस संकल्प का त्याग कर देने पर उसके द्वारा उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण गोचर पदार्थों का भी नाश हो जाता है; उन संपूर्ण अंतहीन एवं अविश्रांत कार्य-परंपराओं का लोप हो जाता है, जिसके अन्दर और जिनके द्वारा संसार का अस्तित्व है; एक के बाद एक आनेवाले विविध रूपों का अन्त हो जाता है और रूप के साथ संकल्प की संपूर्ण अभिव्यक्तियाँ भी समाप्त हो जाती हैं और अन्त में इस अभिव्यक्ति जागतिक रूपों यानी काल और अवकाश तथा इसके अन्तिम मौलिक रूप चेतना और पदार्थ (आत्मा और भूत) सबका अन्त हो जाता है। जहां 'संकल्प' नहीं है, वहां प्रदर्शन नहीं है और जगत् भी नहीं है। केवल शून्य ही रह जाता है। इस शून्यता की अवस्था तक पहुंचने में हमारी प्रकृति बाधक होती है। और हमारी प्रकृति वही हमारी जीने की इच्छा-मात्र है—यही हमारी दुनिया है। हम विनाश से इतनी घृणा करते हैं या दूसरे शब्दों में जीने की इच्छा रखते हैं, यह इस बात का सूचक है कि हम जीवन की दृढ़ कामना करते हैं। हम इस संकल्प के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं और इसके अलावा और कुछ जानते भी नहीं हैं। इसलिए इस संकल्प के संपूर्ण क्षय के पश्चात् जो कुछ बचता है,

वह हमारे-जैसे संकल्प से भरे हुए लोगों के लिए निश्चय ही कुछ नहीं है। पर इसके विरुद्ध जिनके अन्दर संकल्प स्वयं क्षय हो गया है, उनके लिए हमारी यह वास्तविक-सी लगनेवाली दुनिया अपने सम्पूर्ण सूर्यों एवं आकाश-गंगाओं के साथ भी, शून्य ही है।"

सुलेमान कहता है—"सब निस्सार है, वृथाभिमान है! आदमी सूर्य के नीचे जो सारी मेहनत करता है उससे उसे क्या फायदा होता है? एक पीढ़ी जाती है और दूसरी आती है; लेकिन पृथ्वी सदा बनी रहती है...जो चीज पहले रही है, वही आगे भी होगी; जो काम किया गया है, वह वही है जो आगे भी किया जाएगा। सूर्य के नीचे (दुनिया में) कोई भी चीज़ नई नहीं है। क्या कोई ऐसी चीज है जिसे देखकर कहा जा सके—देखो यह नई है! जो है, वह पुराने जमाने में पहले ही रह चुकी है। पूर्व वस्तुओं को कोई याद नहीं करता; आगे जो आवेंगे उनके साथ आनेवाली चीजों को भी लोग याद नहीं रखेंगे—भूल जाएंगे। मैं उपदेशक एक दिन जरूसलम में इसराइलों का बादशाह था। और मैंने ज्ञान के सहारे आकाश के नीचे की वस्तुओं का शोध करने में अपना मन लगाया; यह तीव्र वेदना ईश्वर ने मनुष्य के उपयोग के लिए प्रदान की है। दुनिया में जितने काम किए जाते हैं सबको मैंने देखा है; वह सब मिथ्या अहंकार और आत्मा के उद्वेगमात्र हैं। मैंने स्वयं अपने हृदय में ध्यान लगाया, और कहा—'ओह! मैं बड़ी ऊंची अवस्था में पहुंच गया हूं और मेरे पहले जरूसलम में जितने लोग हुए उन सबसे अधिक ज्ञान मुझे है। हां, मेरे हृदय को विवेक और ज्ञान का महान् अनुभव है। और मैंने ज्ञान का पागलपन और मूर्खता को जानने में मन लगाया। पर मैंने अनुभव किया कि यह सब भी आत्मा एवं अंत:करण का उद्वेग ही है; क्योंकि अधिक ज्ञान में अधिक दु:ख है। और जो ज्ञान को बढ़ाता है दु:ख को भी बढ़ा लेता है।"

मैंने अपने दिल में कहा—'हटो, चलो, अब मैं प्रफुल्लता से तुझे सिद्ध करूंगा, इसलिए सुख भोगूंगा।' और देखो यह भी मिथ्या अहंकार है। मैंने हँसी के बारे में कहा : यह पागल है। उल्लास के बारे में कहा:

यह क्या कर सकता है? मैंने अपने मन में यह देखने की कोशिश की कि मैं अपने हाड़-मांस को खराव से कैसे खुश रख सकता हूं। मैंने इसकी कोशिश की कि मेरे हृदय में ज्ञान की ज्योति जगमगाती रहे और साथ ही मैं बुराइयों में प्रवेश करके देखूं कि मनुष्य जो इतने दिन जीता है तो उसके जीवन के लिए सबसे अच्छी बात क्या है। मैंने बड़े-बड़े काम किए; मैंने अपने लिए मकान बनवाए; अंगूर की खेती की; मैंने बगीचे और उपवन खड़े किये और उनमें तरह-तरह के फलों के वृक्ष लगवाए। बाग के वृक्षों को सींचने के लिए मैंने नहरें बनवाईं; मैंने दास और दासियां रखीं और खुद अपने मकान में दास पैदा कराए; पशुओं और चौपायों का जैसा संग्रह मेरे पास था वैसा मेरे से पहले जरूसलम में कभी देखा नहीं गया था। मैंने राजाओं और बादशाहों तथा सूबों से सोना-चांदी रत्न और आश्चर्यजनक कोष इकट्ठा किया। मेरे पास गायकों और गायिकाओं की कमी न थी; सब तरह के वाद्य-यंत्रों का, जिनसे मानव-जाति आनन्द-उपभोग करती है, मेरे पास भंडार था। इस तरह मैं महान् था और मेरे पहले जरूसलम में जितने लोग हुए उन सबसे अधिक वैभव मेरे पास था। तिस पर मेरा विवेक और ज्ञान भी मेरे साथ था। मेरे आंखों ने जिस चीज की आकांक्षा की, मैंने उन्हें वही दिया। किसी तरह के सुख-भोग से मैंने अपने हृदय को वंचित नहीं रखा।...बाद में अपने उन सब कामों पर गौर किया; उन सब चीजों पर ध्यान दिया जिन्हें पाने के लिए मैंने इतना श्रम किया था। मैंने देखा सब मिथ्या अहंकार और आत्मोद्वेग-मात्र हैं; इन चीजों से कुछ भी लाभ नहीं है। तब मैंने इन पर से अपना मन हटाकर ज्ञान, पागलपन और बुराई को देखने की कोशिश की...पर मैंने अनुभव किया कि इन सबके साथ एक ही घटना घटित होती है। तब मैंने अपने दिल में कहा कि मूर्ख के साथ भी वही बात होती है और मेरे साथ भी वही बात होती है, तब मैं उससे अधिक बुद्धिमान किस तरह हूं? तब मैंने मन में कहा कि यह भी एक मिथ्या अहंकार ही है; क्योंकि जैसे मूर्ख की सदा याद नहीं रहती वैसे ही बुद्धिमान को भी लोग सदा याद नहीं रखते, भूल ही जाते

हैं। आज जो कुछ है वह सब लोग आनेवाले दिनों यानी भविष्य में भूल जाएंगे। और बुद्धिमान आदमी कैसे मरता है? वैसे ही जैसे मूर्ख मरता है। इसलिए मुझे जीवन से घृणा हो गई है; क्योंकि संसार में जो कुछ काम है सब दुःख से पूर्ण है, सब कुछ मिथ्या अहंकार और आत्मोद्वेगमात्र है। बस, मैंने अब तक जो कुछ किया था, जो काम किए थे, उन सबसे मुझे घृणा हो गई; क्योंकि मैं देखता था कि इन सबको अपने बाद आनेवाले आदमी के लिए मुझे जाना होगा।... भला आदमी जो इतना श्रम करता और इतनी परेशानी उठाता है उसमें उसे क्या मिलता है? उसके सारे दिन शोक और दुःख से भरे हुए हैं; रात में भी उसके हृदय को कोई विश्राम नहीं मिलता। यह भी मिथ्याभिमान है। मनुष्य के जीवन को इतनी सुरक्षा नहीं दी गई कि वह खाए, पिए और अपने काम-धाम से अपने हृदय को प्रफुल्ल रखे।... सभी चीजें सब लोगों के पास एक ही तरह से आती हैं; पुण्यात्मा और दुँष्ट दोनों के साथ एक ही बात होती है; अच्छे और बुरे, स्वच्छ और अस्वच्छ, त्याग करनेवाले और त्याग न करनेवाले, सज्जन और पापी, कसम खानेवाले और कसम से डरनेवाले सबके लिए एक ही बात है। सूर्य के नीचे (दुनिया में) जो कुछ किया जाता है उस सब में यही दोष है कि सबके साथ एक ही घटना घटित होती है। आह! मानव-पुत्रों का हृदय बुराइयों से भरा हुआ है और जब तक वे जीते हैं उनके हृदय में पागलपन रहता है, और उसके बाद वह मृत्यु की गोद में जाते हैं! जो जीवितों में हैं उनके लिए आशा है, एक जीवित कुत्ता मरे हुए शेर से अच्छा है; क्योंकि जीवित जानते हैं कि वे मरेंगे, परन्तु मरे हुओं को कुछ पता नहीं—न उनको कोई पुरस्कार ही मिलता है। उसकी याद भी भुला दी जाती है। मौत के साथ ही उनके प्रेम, उनकी घृणा, उनके ईर्ष्या-द्वेष सबका अन्त हो जाता है। फिर कभी दुनिया में किए जानेवाले किसी कार्य में उनका कोई हिस्सा नहीं रहता।''

ये सुलेमान अथवा जिसने भी इसे लिखा हो, उसके शब्द हैं। अब भारतीय ज्ञान भी सुनिए :

शाक्यमुनि एम तरुण और सुखी राजकुमार थे। उनसे बीमारी, बुढ़ापे और मृत्यु के अस्तित्व की बात छिपा रखी गई थी। एक दिन वह सैर को निकले और उन्होंने एक अत्यन्त जीर्ण बूढ़े आदमी को देखा, जिसके दांत टूट गए थे और मुंह से फेन निकल रहा था। चूंकि राजकुमार से तब तक बुढ़ापे का अस्तित्व छिपाया गया था, इसलिए उनको यह दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने सारथी से पूछा—'यह क्या चीज है, और इस आदमी की इतनी बुरी और दु:खदायी हालत क्यों है?' जब उन्हें मालूम हुआ कि सभी मनुष्यों के भाग में यह बात लिखी है और स्वयं उनकी भी अनिवार्यत: यही हालत होगी तो वह आगे सैर को न जा सके। सारथी को घर लौटने की आज्ञा दी, जिससे वह इस घटना पर विचार कर सके। घर लौटकर उन्होंने अपने को एक कमरे में बन्द कर लिया और घटना पर विचार करने लगे। शायद उन्होंने अपने दिल को किसी तरह समझा-बुझा लिया होगा; क्योंकि बाद में वह फिर प्रफुल्ल और सुखी होकर सैर को निकले। इस बार उनको एक बीमार आदमी दिखाई दिया। इस आदमी का शरीर सूख गया था, वह नीला पड़ गया था, शरीर कांप रहा था और आंखों में अंधेरा छा रहा था। चूंकि राजकुमार से बीमारी के अस्तित्व की बात छिपाई गई थी, इसलिए उन्होंने इस आदमी को देखते ही रथ रुकवा दिया और पूछा—'क्या बात है?' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह बीमारी है जो सभी को होती है और स्वस्थ और प्रसन्न राजकुमार भी कल बीमार पड़ सकते हैं तो वह सैर का आनंद भूल गए। घर लौटने की आज्ञा दी और शायद सोच-विचार के बाद अपने मन को किसी तरह सांत्वना देने में समर्थ हुए; क्योंकि तीसरे दिन वह फिर तीसरी बार सैर के लिए निकले। पर इस बार भी उन्हें एक नया दृश्य दिखाई दिया। उन्होंने देखा कि लोग किसी चीज को कंधे पर रखे लिये जा रहे हैं। पूछा—'यह क्या है?' उत्तर मिला—'मुरदा है।' राजकुमार ने सवाल किया—'मुरदा क्या होता है?' उनको बताया गया कि उस आदमी की-सी अवस्था में हो जाने पर मुरदा कहते हैं। राजकुमार अर्थी के नजदीक गए, कपड़ा हटाया

और उसे देखा। पूछा—'अब इसका क्या होगा?' लोगों ने कहा कि अब इसे जलाएंगे। 'क्यों?' क्योंकि अब वह फिर जी नहीं सकता और उसके शरीर में सिर्फ बदबू और कीड़े पैदा होंगे। 'क्या सब आदमियों की यही गति होती है? क्या मेरी भी यही हालत होगी? क्या लोग मुझे भी जला देंगे? क्या मेरे शरीर से बदबू पैदा होगी और उसे कीड़े खाएंगे?' उत्तर मिला—'हां'। राजकुमार ने सारथी से कहा—'घर लौटो। मैं फिर कभी मनोरंजन के लिए सैर-सपाटे को न निकलूंगा।'

तब से शाक्य मुनि के हृदय में बेचैनी पैदा हुई। उनको जीवन में कोई सांत्वना न मिल सकी और उन्होंने निर्णय किया कि जीवन सबसे बड़ी बुराई है। उन्होंने अपनी आत्मा की सारी शक्ति इस बुराई से मुक्ति पाने और दूसरों को मुक्ति करने में और इस चेष्टा में लगा दी कि मृत्यु के बाद फिर जीवन का चक्र न चल सके, बल्कि समूल उसका अन्त हो जाए। यह भारतीय ज्ञान की वाणी है।

मानवीय ज्ञान जब जीवन के प्रश्न का उत्तर देता है तब इसी तरह के सीधे उत्तर उससे मिलते हैं।

'दैहिक जीवन बुरा एवं असत् है। इसलिए दैहिक जीवन का नाश ही सुख है और हमें उसी की कामना करनी चाहिए।' यह शापनहार का कथन है।

'ज्ञान और अज्ञान, वैभव और गरीबी, सुख और दुःख—जो भी दुनिया में है, सब मिथ्याहंकार और पोल है। आदमी मर जाता है और उसका कोई चिह्न नहीं बचता। कैसी मूर्खता है।' यह सुलेमान का कथन है।

'दुःख और अनिवार्यतः शक्ति-हीन, वृद्ध तथा मृत्यु होने की चेतना के बीच रहना असंभव है। हमें जीवन से—सब प्रकार के संभव जीवन के जाल से छूटना ही होगा।' यह बुद्ध की वाणी है।

और इन महापुरुषों एवं चिंतकों ने जो कुछ कहा है उसे लाखों आदमियों कहा, सोचा और अनुभव किया है। मैंने भी इसे सोचा और अनुभव किया है।

इस तरह वैज्ञानिकों के बीच जो सैर मैंने की, उसे अपनी निराशा से छूटने की जगह मैं उसमें और भी जोरों के साथ फंसता गया। ज्ञान के एक वर्ग ने जीवन के प्रश्न का उत्तर ही नहीं दिया; दूसरे ने सीधा जवाब दिया और मेरी निराशा को पक्का कर दिया। उसने यह कहने की जगह कि जिस नतीजे पर मैं पहुंचा हूं, वह मेरी भूल या मेरे मन की अस्वस्थ अवस्था का परिणाम है, उलटे कहा कि मैंने जो सोचा है, ठीक ही सोचा है और मेरे विचार सबसे शक्तिमान् मानवी-मस्तिष्कों द्वारा पहुंचे हुए नतीजे से मेल खाते हैं।

अपने को धोखे में रखने से कोई फायदा नहीं है! यह सब मिथ्या अहंकार है! जो पैदा नहीं हुआ है वही सुखी है—भाग्यवान् है; मृत्यु जीवन से अच्छी है और आदमी को जीवन से अवश्य मुक्ति-लाभ करना चाहिए।

: 7 :

जब मुझे विज्ञान के अन्दर कोई जवाब नहीं मिला तब मैंने जीवन में उसकी खोज शुरू की और आस-पास के लोगों में ही उसे पा लेने की उम्मीद की। मैंने इस बात पर ध्यान देना शुरू किया मेरे आस पास के मेरे ही जैसे लोग कैसे जीवन व्यतीत करते हैं और उस प्रश्न के प्रति उनका क्या रुख है, जिसने मुझे निराशा के भंवर में लाकर छोड़ दिया है।

जो लोग मेरे-जैसी स्थिति में थे, यानी जिसकी शिक्षा-दीक्षा और जीवन-प्रणाली मेरे समान थी, उनके बीच मैंने यह जवाब पाया।

मैंने पता लगाया कि मेरे वर्ग के आदमी जिस भयानक स्थिति में थे, उससे निकलने के लिए चार रास्ते हैं।

पहला अज्ञान का रास्ता है यानी इस बात को न जानना, न समझना कि जिन्दगी एक बुराई और फिजूल की चीज है। इस तरह के लोग-विशेष रीति से स्त्रियां या नवयुवक या बिल्कुल कुन्दज़हन—अभी तक जिन्दगी के उस सवाल को समझ नहीं पाए हैं जो शापनहार, सुलेमान और

बुद्ध के सामने आया था। वे न तो उस अजगर को ही देख रहे हैं जो उसकी बाट जोह रहा है और न उस टहनी काटनेवाले चूहों को ही देख रहे हैं, जिससे वे लटके हुए हैं। वे सिर्फ शहद की बूंदें चाटते हैं। पर शहद की बूंदें भी वे थोड़े समय तक चाट पाते हैं; कोई चीज उनका ध्यान अजगर और चूहे की तरफ जरूर खींचेगी और शहद चाटने का अन्त हो जाएगा। ऐसे लोगों से मुझे कुछ सीखना नहीं है—आदमी जिस बात को जानता है उसकी ओर से आंख कैसे मूंद सकता है।

इससे छूटने का दूसरा मार्ग विषयासक्ति है। इसका मतलब है—जीवन की व्यर्थता को जानते हुए भी जो कुछ सुविधाएं मिल गई हैं, उनका फिलहाल उपयोग करना और अजगर एवं चूहे की परवाह न करते हुए अपनी पहुंच में जितना शहद हो उसे चाटते जाना। सुलेमान ने इसी भाव को यों व्यक्त किया है—'तब मैंने आनन्द का मार्ग ग्रहण किया; क्योंकि आदमी के लिए दुनिया में खाने-पीने और आनन्द मनाने से बढ़कर और क्या है। ईश्वर ने दुनिया में उसे जीने के जितने दिन दिए हैं, उसमें अगर सुख-भोग का यह क्रम चलता रहे तो फिर और क्या चाहिए?

'इसलिए आनन्द से अपनी रोटी खा और उल्लसित हृदय से अपनी शराब पी।...जिस पत्नी को अपने मिथ्या अहंकार की जिंदगी के दिनों में तू प्यार करता है उसके साथ सुखपूर्वक रह...क्योंकि दुनिया में तू जो श्रम करता है उसमें तुझे अपने हिस्से में यह चीज मिली है। तेरे हाथों को जो कुछ करने को मिले उसे अपनी सारी ताकत से कर; क्योंकि जिस कब्र की तरफ तू चला जा रहा है उसमें कोई काम, कोई उपाय, कोई ज्ञान नहीं है।

इसी मार्ग पर चलकर हमारी श्रेणी के अधिकतर मनुष्य अपने लिए जीवन संभव बनाते हैं। अपनी परिस्थिति के कारण उन्हें अपने जीवन में कठिनाई की जगह आराम और सुख-भोग अधिक मिलता है और अपनी नैतिक अन्धता की वजह से यह भूल जाते हैं कि उनकी स्थिति ने जो सुविधा दिला रखी है वह आकस्मिक है और सुलेमान की तरह हर आदमी को हजार पत्नियां और महल नहीं मिल सकते। वे यह भी भूल

जाते हैं कि हर ऐसे आदमी के बदले, जिसके पास हजार औरतें हैं, हजार आदमी बिना औरत के ही रह जाते हैं और हर महल को बनाने में हजार आदमियों को पसीना बहाकर काम करना पड़ता है और जिस घटना-चक्र ने आज मुझे सुलेमान बना दिया है वही कल मुझे सुलेमान का दास भी बना सकता है। चूंकि इन आदमियों की कल्पना-शक्ति बिल्कुल कुंठित हो चुकी होती है, इसलिए वे इन बातों को भुला सकते हैं, जिनके कारण बुद्ध को शांति नहीं मिलती थी—यानी उस अनिवार्य बीमारी, बुढ़ापे और मौत को वे भूल जाते हैं, जो आज या कल इन सब सुखों का अन्त कर देगी।

हमारे जमाने के और हमारी तरह जिन्दगी बितानेवाले अधिकतर आदमी इस तरह सोचते और अनुभव करते हैं। यह ठीक है कि इनमें से कुछ लोग अपने कठिन विचारों और कल्पनाओं को एक तत्त्व-ज्ञान के रूप में घोषित करते हैं और उसे 'निश्चयात्मक' (पॉजिटिव) नाम देते हैं; पर मेरी सम्मति में इसके कारण वे उन लोगों के झुण्ड से अलग नहीं किये जा सकते, जो प्रश्न को दृष्टि से ओट करने के लिए, शहद चाटते हैं। मैं उन आदमियों की नकल नहीं कर सकता, और उनकी जैसी मंद कल्पना न होने के कारण मैं उनकी तरह इसे बनावटी तौरपर अपने अंदर पैदा भी नहीं कर सकता। मैं अजगर और चूहे से अपनी आंखें हटा नहीं सकता; कोई चेतनाधारी मनुष्य एक बार उन्हें देख लेने के बाद ऐसा नहीं कर सकता।

पलायन का तीसरा रास्ता बल और शक्ति का है। इसके मानी यह है कि जब आदमी समझ ले कि जीवन केवल एक बुराई और निरर्थक-सी वस्तु है तब उसे नष्ट कर दे। कुछ असाधारण रूप से शक्तिमान् और दृढ़ व्यक्ति ही ऐसा करते हैं। अपने साथ जो मजाक किया गया है उसकी निरर्थकता समझ लेने और जीने से मर जाना अच्छा है तथा अस्तित्व न रखना सबसे अच्छा है, यह जान लेने के बाद वे इस मूर्खतापूर्ण मजाक का खात्मा कर देते हैं—क्योंकि खात्मा करने के साधन भी मौजूद हैं; गले के

चारों ओर रस्सी का फंदा, पानी, कलेजे में घुसेड़ लेने के लिए छुरा, रेल पर चलनेवाली गाड़ियां। हममें से जो लोग ऐसा करते हैं उनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। इनमें से अधिकतर अपने जीवन के सबसे अच्छे काल में, जब उनके मन की शक्ति खूब विकसित होती है और मनुष्य के मन को विकृत और पतित करनेवाली आदत भी उनमें बहुत कम होती हैं, ऐसा करते हैं।

मैंने देखा कि पलायन का यही सबसे अच्छा उपाय है और मैंने इसे ही ग्रहण करने की इच्छा की।

एक चौथा उपाय और है; पर वह दुर्बलता का उपाय है। मनुष्य परिस्थिति की सच्चाई को देखते हुए भी जीवन से चिपटा रहता है—यद्यपि वह पहले से ही यह जानता है कि इससे कोई चीज हाथ नहीं आनी है। वह जानता है कि मौत जिंदगी से बेहतर है; पर बुद्धिमत्तापूर्वक आचरण करने की, जल्दी इस धोखाधड़ी को खत्म करने और अपने को मार डालने की, ताकत न होने के कारण वह किसी चीज की प्रतीक्षा करता हुआ मालूम पड़ता है। यह दुर्बलतापूर्वक पलायन है, क्योंकि जब मैं जानता हूं कि सर्वोत्तम उपाय क्या है और उसे करना मेरे बस की बात है तब उसे क्यों न किया जाए? मैंने अपने को इसी वर्ग में पाया।

इन चार उपायों से मेरी श्रेणी के मनुष्य भयंकर परस्पर विरुद्ध बातों से दूर भागते हैं। मैंने बहुत सोचा-विचारा; पर इन चार उपायों के अलावा मुझे कोई और मार्ग नहीं दिखाई दिया। एक उपाय यह था—जीवन मूर्खतापूर्ण, मिथ्या अहंकार और बुराई है और जिंदा न रहना बेहतर है; यह ज्ञान ही न हो। पर मैं इस ज्ञान से रहित न रह सका और जब एक बार यह ज्ञान हो गया तब उससे आंखें कैसे बंद कर सकता था? दूसरा उपाय यह था—बिना भविष्य का विचार किए जैसा भी जीवन है, बिताया जाए। मैं ऐसा भी नहीं कर सकता था। शाक्यमुनि की तरह जानते हुए कि बुढ़ापा, बीमारी और मौत का अस्तित्व है, मैं सैर-शिकार को नहीं जा सकता था। मेरी कल्पना बड़ी प्रबल थी। मैं उन आकस्मिक क्षणों में भी

प्रसन्नता नहीं अनुभव कर पाता था जो पलभर के लिए मेरे सामने सुख के टुकड़े फेंक देते थे। तीसरा उपाय यह था कि इस बात को समझ लेने के बाद कि जिंदगी एक बुराई और बेवकूफी से भरी हुई चीज है, अपने को मारकर उसका खात्मा कर देता। मैं जीवन की व्यर्थता समझता था, फिर भी किसी वजह से आत्म-हत्या मैंने नहीं की। चौथा उपाय है—सुलेमान और शॉपनहार की तरह रहे का—यह जानते हुए कि जिंदगी हमारे साथ किया गया एक मजाक है, जीवन बिताने, नहाने-धोने, खाने-पहनने, बात करने और किताबें लिखने का! मेरे लिए यह घृणाजनक और दुःखदायी था। लेकिन मैं उस स्थिति में बना रहा।

आज मैं देखता हूं कि मैं आत्म-हत्या नहीं कर सका, इसका कारण अपने विचार भ्रम-पूर्ण होने की धुँधली चेतना थी। अपनी तथा विद्वानों की यह विचार-प्रणाली चाहे कितनी ही विश्वसनीय और संदेह-रहित मालूम पड़ी हो जिसने मुझे जीवन की व्यर्थता स्वीकार करने पर विवश किया; पर इस परिणाम के औचित्य के संबंध मेरे अंदर एक धुँधला संदेह बना ही रहा।

इस संदेह कुछ इस तरह का था : मैं अर्थात् मेरी बुद्धि ने मान लिया कि जीवन व्यर्थ है। अगर बुद्धि से ऊंची कोई चीज नहीं है (और है भी नहीं; कोई चीज सिद्ध नहीं कर सकती कि इससे ऊंची वस्तु है), तब मेरे लिए बुद्धि ही जीवन की सृष्टि करनेवाली है। अगर बुद्धि के अस्तित्व का लोप हो जाए तो मेरे लिए जीवन भी न रहेगा। पर बुद्धि जीवन से इनकार कैसे कर सकती है, जब वह स्वयं जीवन की सृष्टि करने वाली है? या इसे दूसरी तरह कहें : अगर जीवन न होता तो मेरी बुद्धि का अस्तित्व भी न होता, इसलिए बुद्धि जीवन की संतान है। जीवन ही सब कुछ है। बुद्धि उसका फल है, फिर भी बुद्धि स्वयं जीवन को अस्वीकार करती है। मैंने अनुभव किया कि इसमें कोई-न-कोई गलती है।

मैंने अपने से कहा—यह ठीक है कि जीवन एक व्यर्थ की बुराई है। फिर भी मैं जीता रहा हूं और अब भी जी रहा हूं; सारी मानव-जाति जीती

रही और जी रही है। यह कैसी बात है? जब जीना असंभव है, तब फिर वह क्यों जीती? क्या सिर्फ मैं और शॉपनहार ही इतने बुद्धिमान हैं कि जीवन की व्यर्थता और बुराई को समझते हैं।

जिस तर्क से जीवन का मिथ्या अहंकार सिद्ध होता है वह बहुत कठिन नहीं है और बिल्कुल सीधे-सादे लोग दीर्घकाल से उसे जानते हैं, फिर भी वे जीते रहे हैं और आज भी जी रहे हैं। फिर क्या कारण है कि वे सब जीते रहते हैं और कभी जीवन के औचित्य में संदेह करने की बात नहीं सोचते?

ऋषियों के विवेक से पुष्ट मेरे ज्ञान ने मुझे बताया है कि पृथ्वी पर रहने वाली प्रत्येक वस्तु—शरीरी और अशरीरी—अत्यंत चतुराई के साथ एक व्यवस्था और शृंखला में पिरोई हुई है, केवल मेरी ही स्थिति हास्यास्पद है। और उन मूर्खों को—विस्तृत जन-समूह को—इस बात का कुछ ज्ञान नहीं है कि जगत् की प्रत्येक शरीरी और अशरीरी वस्तु में किस प्रकार से एक क्रम का विधान है। फिर भी वे जी रहे हैं और उन्हें मालूम पड़ता है कि उनका जीवन बड़ा बुद्धिमत्तापूर्ण है।

मेरे मन में विचार उठा कि 'कहीं ऐसा तो नहीं है कि मैं किसी वस्तु को अभी तक न जानता होऊं? अज्ञान ठीक इसी रूप में अपना कार्य करता है। वह सदैव ठीक बात कहता है जो मैं कह रहा हूं। जब वह किसी वस्तु को नहीं जानता तब यह कहता है कि जो कुछ मैं नहीं जानता वह सब मूर्खतापूर्ण है। स्पष्टतया सारे-का-सारा मानव-समाज युग-युग-से जीता रहा है और आज भी इस तरह जी रहा है मानो उसने अपने जीवन का अर्थ समझ लिया हो; क्योंकि बिना यह समझे वह जी नहीं सकता; किन्तु मैं कहता हूं कि यह सब जीवन निरर्थक है और मैं जी नहीं सकता।

'आत्मा-हत्या द्वारा जीवन को समाप्त करने से हमें कोई चीज नहीं रोकती। तब अपने को मार डालो और बहस मत करो। यदि जीवन तुम्हें दुखी करता है तो अपनी हत्या कर लो! तुम जीते हो और फिर भी जीवन

के तात्पर्य को समझ नहीं सकते तो इस जीवन का अन्त कर दो; और जीवन में आत्म-वंचना करते तथा उन बातों को कहते और लिखते हुए न फिरो, जिसे तुम स्वयं समझने में असमर्थ हो। तुम एक अच्छे समाज में पैदा हुए हो, जिसमें लोग अपनी स्थिति से संतुष्ट हैं और जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं। यदि तुम इसे निरानंद और घृणाजनक पाते हो तो इसे छोड़कर चल दो।'

वस्तुतः हमारे-जैसे लोग जो आत्म-हत्या की आवश्यकता अनुभव करते हैं, फिर भी आत्म-हत्या करने का निश्चय नहीं कर पाते, अवश्य ही सबसे दुर्बल, अस्थिर और स्पष्ट शब्दों में सबसे मूर्ख आदमी हैं और उन मूर्खों की तरह अपनी मूर्खता का प्रदर्शन करते फिरते हैं, जो एक चित्रित पापिनी के विषय में प्रलाप करते हैं। कारण हमारी बुद्धि और हमारा ज्ञान चाहे कितना ही संदेह-रहित हो; किन्तु उसने हमें अपने जीवन का अर्थ समझने की शक्ति नहीं दी। परन्तु समग्र मानव-जाति के करोड़ों-अरबों लोग अपना जीवन जीते हैं और उन्हें जीवन के अर्थ के विषय में कोई संदेह नहीं रहता।

अत्यंत प्राचीन काल से, जिसके बारे में हमें कुछ भी जानकारी है, अब जीवन का आरंभ हुआ तब से जगत् में मनुष्य-जीवन की व्यर्थता का तर्क जानते हुए भी जीते रहे हैं—वही तर्क मुझे जीवन की निरर्थता बतलाई है—परन्तु वे जीवन के कुछ अर्थ प्रदान करके जीते रहे हैं।

जब से मानव-जीवन का आरंभ हुआ तब से मनुष्यों को जीवन के अर्थ का भी पता रहा है और वे वही जीवन बिताते रहे हैं, जो आज मेरे पास आया है। जो कुछ मेरे अन्दर और मेरे आस-पास है, सब शरीरी और अशरीरी वस्तुएं, उन्हीं के जीवन-ज्ञान का परिणाम हैं। विचार की जिस प्रणाली से मैं इस जीवन के विषय में चिंतन करता और उसका तिरस्कार करता हूं, उसका आविष्कार मैंने नहीं बल्कि उन्होंने किया था। यह भी उन्हीं की कृपा है कि मैं पैदा हुआ, पढ़ाया-लिखाया गया और इस प्रकार विकसित हुआ। उन्होंने ही हमें जमीन खोदकर लोहे का पता लगाया,

उन्होंने ही जंगलों को काटकर साफ करना सिखलाया, गायों और घोड़ों का पालन करना सिखलाया, उन्होंने ही हमें बतलाया कि खेत में अन्न किस प्रकार बोना चाहिए और हम मिल-जुलकर किस प्रकार रह सकते हैं। उन्होंने हमारे जीवन को संगठित किया और मुझे सोचना और बोलना सिखलाया। और मैं, उन्हीं की संतति उन्हीं द्वारा पालित-पोषित, उन्हीं द्वारा ज्ञान प्राप्त कर और उन्ही के विचारों और शब्दों का अपने चिंतन में उपभोग करते हुए, तर्क करता हूं कि वे मूर्ख और निरर्थक थे! तब मैंने अपने मन में कहा कि 'कहीं-न-कहीं अवश्य कोई गलती हो रही और मैं कुछ भूल अवश्य कर रहा हूं।' लेकिन वह गलती कहां है और क्या है इसका पता मुझे बाद में चला।

: 8 :

ये सब संदेह, जिन्हें आज मैं थोड़े-बहुत रूप में प्रकट करने में समर्थ हुआ हूं उस समय व्यक्त नहीं कर सकता था। उन समय तो मैं इतना ही अनुभव करता था कि जीवन के मिथ्या अहंकार के संबंध में मेरे निष्कर्ष तर्क की दृष्टि से चाहे कितने ही अनिवार्य जान पड़ते हों और संसार के महान् विचारकों द्वारा उनको चाहे कितना ही समर्थन प्राप्त हुआ हो; किंतु उनमें कोई-कोई गलती अवश्य है। यह गलती स्वयं उस तर्क-प्रणाली में है अथवा प्रश्न के वक्तव्य में है, यह मैं नहीं जानता था। मैं इतना ही अनुभव करता था कि जिस नतीजे पर मैं पहुंचा हूं वह तर्क की दृष्टि से विश्वसनीय है; किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। ये सब निष्कर्ष मुझे इतना विश्वास नहीं दिला सके कि मैं अपने तर्क के अनुसार आचरण भी करूं अर्थात् अपनी हत्या कर लूं। और यदि अपनी हत्या किए बिना ही मैं कहता कि बुद्धि से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुंचा हूं तो यह एक झूठी बात होती। बुद्धि और तर्क अपना काम कर रहे थे; लेकिन कोई और चीज भी अन्दर-ही-अन्दर क्रियाशील थी; जिसे मैं जीवन की चेतना के नाम से ही पुकार सकता हूं। मेरे अन्दर एक शक्ति काम कर रही थी जो बरबस मेरा

ध्यान इस तरफ़ खींच रही थी; और यही वह शक्ति थी जिसमे मुझे मेरी निराशापूर्ण स्थिति से उबारा और एक बिल्कुल दूसरी दिशा में मेरा मन फेर दिया। इस शक्ति ने मुझे इस तथ्य की ओर ध्यान देने को मजबूर किया कि मैं और मेरे-जैसे कुछ थोड़े आदमियों तक ही मानव-जाति सीमित नहीं है और अभी तक मैं मानव-जीवन का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सका हूं।

अपने वर्ग के लोगों की संकुचित परिधि में मैंने देखा कि उनमें ऐसे ही लोग हैं जिन्होंने या तो इस प्रश्न को समझा ही नहीं है, यदि समझा भी है तो उसे जीवन के नशे में भुला दिया है, अथवा समझाकर अपने जीवन का अन्त कर दिया है, अथवा इसे समझा तो है; किन्तु अपनी दुर्बलता के कारण वे निराशापूर्ण जीवन के दिन बिता रहे हैं। इसके सिवाय मुझे दूसरे लोग दिखलाई न पड़ते थे। मुझे ऐसा मालूम पड़ता था कि धनवान, शिक्षित और निठल्ले लोगों के इस संकुचित समाज तक—जिसमें मैं भी शामिल था—ही सारी मनुष्य-जाति का खात्मा हो जाता है, और वे करोड़ों आदमी, जो इस छोटे समाज के बाहर रहकर जीवन बिताते रहे हैं और आज बिता रहे हैं एक प्रकार के पशु हैं—वे असली आदमी नहीं हैं।

यद्यपि इस समय यह बात अविश्वसनीय रूप से अचिंत्य मालूम होती है कि मैं जीवन के विषय में तर्क करते हुए भी अपने चारों ओर के संपूर्ण मानव-जीवन को भूल जाता था और यह समझने की भूलकर बैठता था कि मेरा तथा सुलेमान और शॉपनहार का जीवन ही सच्चा जीवन है और करोड़ों मनुष्यों का जीवन ध्यान देने लायक नहीं—पर उस समय सचमुच यही बात थी। अपनी बुद्धि के अहंकार और आत्म-वंचना में मुझे यह बात असंदिग्ध मालूम पड़ती थी कि मैंने एवं सुलेमान और शॉपनहार ने जीवन के इस सवाल को ऐसे सच्चे और उचित रूप में रखा है कि उसके अतिरिक्त और कुछ भी संभव नहीं है। यह बात मुझे इतनी असंदिग्ध प्रतीत होती थी कि अपने चारों ओर फैले हुए उन करोड़ों आदमियों के जीवन के विषय में कभी मेरे मन में एक बार भी यह प्रश्न

नहीं उत्पन्न हुआ कि 'जो कोटि-कोटि व्यक्ति दुनिया में जीते रहे हैं और जी रहे हैं उन्होंने अपने जीवन का क्या अर्थ समझा था, तथा समझा है?'

मैं बहुत दिनों तक पागलपन की अवस्था में रहा, जो हम अत्यन्त उदार और सुशिक्षित आदमियों का औसत स्वभाव प्रकट करती है। किन्तु सच्चे श्रमिकों के लिए मेरे हृदय में जो स्नेह है, उसने मुझे उनकी ओर ध्यान देने और समझने के लिए विवश किया कि वे उतने मूर्ख नहीं हैं जितना हमने मान रखा है। इस वृत्ति के कारण अथवा अपने विश्वास की इस सच्चाई के कारण ही अपनी हत्या कर देने के अतिरिक्त मैं और कुछ जानने में असमर्थ हूं, मैंने आंतरिक प्रेरणावश यह अनुभव किया कि यदि मैं जीना और जीवन का अर्थ समझना चाहता हूं तो मुझे उन लोगों में इसकी खोज नहीं करनी चाहिए जिन्होंने इसे खो दिया है अथवा जो अपनी हत्या करना चाहते हैं, बल्कि भूत और वर्तमान काल के उन करोड़ों आदमियों में उसकी खोज करनी चाहिए जो जीवन का निर्माण करते हैं और जो न केवल अपनी जिंदगी का बोझ उठाते हैं; बल्कि हमारे जीवन का बोझ भी अपने कंधों पर ले लेते हैं! तब मैंने उन बहु-संख्यक सरल, अशिक्षित और गरीब लोगों के जीवन पर विचार करना आरंभ किया जो जीवन जी चुके हैं अथवा आज भी जी रहे हैं। मैंने एक बिल्कुल ही नई बात देखी। मैंने देखा कि थोड़े अपवादों को छोड़कर ये करोड़ों आदमी, जो जीवन जी चुके अथवा जी रहे हैं, मेरी पूर्व-निश्चित श्रेणियों में नहीं बांटे जा सकते। मैं उन्हें न तो उन आदमियों की श्रेणी में रख सकता हूं, जो प्रश्न को नहीं समझते; क्योंकि वे स्वयं उसे उपस्थित करते हैं और असाधारण स्पष्टता के साथ उसका उत्तर देते हैं। मैं उन्हें विषयासक्त भी नहीं मान सकता; क्योंकि उनके जीवन में सुख-भोग की अपेक्षा दुःख-कष्ट-भोग ही अधिक है। इनकी गिनती मैं उन लोगों में तो कर नहीं सकता जो अविवेकपूर्वक अपने अर्थ-हीन जीवन का भार ढो रहे हैं; क्योंकि वे अपने जीवन के हरेक काम और मौत तक की व्याख्या कर लेते हैं। आत्म-हत्या को वे सबसे बड़ा पाप समझते हैं। तब मुझ पर यह प्रकट हुआ कि सारी मानव-जाति को जीवन के अर्थ का

ज्ञान था; पर जिसे मैं स्वीकार न करता था और उससे घृणा करता था। मुझे यह भी मालूम पड़ा कि तार्किक ज्ञान जीवन का अर्थ बताने में असमर्थ है; वह जीवन को बहिष्कृत करता है। उधर करोड़ों आदमी—सारा मनुष्य-समाज—जीवन का जो अर्थ लगाते हैं वह एक प्रकार के तिरस्कृत मिथ्या-ज्ञान पर आश्रित है।

पंडितों और विद्वानों का तर्क-सम्मत ज्ञान जीवन का कोई अर्थ अस्वीकार करता है; परन्तु मनुष्यों की बहुत बड़ी संख्या, करीब-करीब सारी मनुष्य-जाति, इस अर्थ को अतार्किक ज्ञान में प्राप्त करती है। और यह अतार्किक ज्ञान ही श्रद्धा है—वह वस्तु जिसे मैं अस्वीकार किए बिना नहीं रह सकता था। यह ईश्वर है, यह त्रिमूर्ति में एक है, यह छः दिनों में सृष्टि करने के समान है। पर इन सब बातों को मैं उस वक्त तक स्वीकार नहीं कर सकता जब तक मुझ में बुद्धि है।

मेरी स्थिति बड़ी भयंकर थी। मैं जान चुका था कि तार्किक ज्ञान के मार्ग पर चलकर तो मैं जीवन की अस्वीकृति के सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं कर सकता; और उधर श्रद्धा के पक्ष में बुद्धि की अस्वीकृति के सिवाय दूसरी कोई बात नहीं थी जो मेरे लिए जीवन की अस्वीकृति की अपेक्षा कहीं असंभव थी। तार्किक ज्ञान से तो यह प्रकट होता था कि जीवन एक बुराई है और लोग इसे जानते हैं कि न जीना स्वयं उन्हीं पर निर्भर है; फिर भी उन्होंनें अपने जीवन के दिन पूरे किए और आज भी वे जी रहे हैं। स्वयं मैं जी रहा हूं, यद्यपि बहुत दिनों से मुझे इस बात का ज्ञान है कि जीवन अर्थ-हीन और एक दूषण है। श्रद्धा द्वारा यह प्रकट होता है कि जीवन का अर्थ समझने के लिए मुझे अपनी बुद्धि का तिरस्कार करना चाहिए—उसी वस्तु का जिसके लिए जीवन का अर्थ जानने की आवश्यकता है।

: 9 :

इस प्रकार जो संघर्ष और परस्पर-विरोधी स्थिति पैदा हुई उससे निकलने के दो मार्ग थे। या तो यह कि जिसे मैं बुद्धि कहता हूं वह इतनी तर्क-

संगत नहीं है जितनी मैं माने बैठा हूं; अथवा यह कि जिसे मैं अबौद्धिक और अतार्किक समझता हूं, वह इतना अबौद्धिक और तर्क-विरोधी नहीं है जितना मैं समझता हूं। तब मैं अपने तार्किक ज्ञान की तर्क प्रणाली पर विचार और उसकी छान-बीन करने लगा।

अपने बौद्धिक ज्ञान की तर्क-प्रणाली पर विचार करने पर मुझे वह बिल्कुल ठीक मालूम हुई। यह निष्कर्ष अनिवार्य था कि जीवन शून्यवत् है; किन्तु मुझे एक भूल दिखाई पड़ी। भूल यह थी कि मेरा तर्क उस प्रश्न के अनुरूप नहीं था जो मैंने उपस्थित किया था। प्रश्न था—मैं क्यों जीऊं, अर्थात् मेरे इस स्वप्नवत् क्षणिक जीवन से क्या वास्तविक और अस्थायी परिणाम निकलेगा; इस असीम जगत् में मेरे सीमित अस्तित्व का प्रयोजन क्या है?' इसी प्रश्न का जवाब देने के लिए जीवन का अध्ययन किया था।

जीवन के सब संभव प्रश्न के हल मुझे संतुष्ट न कर सके; क्योंकि मेरा सवाल यद्यपि यों देखने में सीधा-सादा था; परन्तु इसमें सीमित वस्तु को असीम के रूप में और असीम को सीमित वस्तु के रूप में समझने की मांग की शामिल थी।

मैंने पूछा—'काल, कारण और आकाश के बाहर मेरे जीवन का क्या अर्थ है?' और मैंने इस प्रश्न का यों उत्तर दिया—'काल, कारण और आकाश के भीतर मेरे जीवन का क्या अर्थ है? 'बहुत सोच-विचार के बाद मैं यही उत्तर दे सका कि कुछ नहीं।

अपने तर्कों में मैं बराबर सीमित की सीमित के साथ और असीम की असीम के साथ तुलना करता रहा। इसके सिवाय मैं कर ही क्या सकता था? इसी तर्क के कारण मैं इस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुंचा—शक्ति शक्ति है, पदार्थय पदार्थ, संकल्प संकल्प है, असीम असीम है, शून्य शून्य है—इस रीति से इसी परिणाम पर पहुंचना सम्भव था।

यह बात कुछ वैसी ही थी जैसी गणित के क्षेत्रों में उस समय होती है जब हम किसी समीकरण को हल करने का विचार करते हुए यह

देखते हैं कि हम समान संख्याओं को ही हल कर रहे हैं। यह तर्क प्रणाली तो ठीक है; लेकिन उत्तर में इसका परिणाम यह निकलता है कि 'क' 'क' के बराबर है या 'ख' 'ख' के बराबर है या 'ग' 'ग' के बराबर है। अपने जीवन के अर्थवाले प्रश्न के विषय में तर्क करते समय भी मेरे साथ यही बात हुई। सब प्रकार के विज्ञानों द्वारा इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिला।

और सच तो यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान—यह ज्ञान तो डिकार्टे की भांति प्रत्येक वस्तु के विषय में पूर्ण सन्देह के साथ शुरू होता है, श्रद्धा द्वारा स्वीकृत सब प्रकार का ज्ञान अस्वीकार करता है और प्रत्येक वस्तु का बुद्धि, तर्क और अनुभव के नियमों के आधार पर नवीन रूप से निर्माण करता है, और जीवन के प्रश्न के विषय में उनके अलावा और कोई जवाब नहीं दे सकता जो मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था अर्थात् एक अनिश्चित उत्तर। शुरू-शुरू में तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि विज्ञान ने मुझे एक निश्चयात्मक उत्तर दिया है—वह उत्तर जो शॉपहनहार ने दिया था यानी जीवन का कोई अर्थ नहीं है और यह एक बुराई है; किन्तु इस विषय की भली-भांति परीक्षा करने पर मैंने देखा कि यह उत्तर निश्चयात्मक नहीं है, केवल मेरी अनुभूति ने उसे इस रूप में प्रकट किया है। ठीक-तौर से उसे व्यक्त किया जाए—जैसा कि ब्राह्मणों, सुलेमान और शॉपनहार ने व्यक्त किया है—जो जवाब अनिश्चित अथवा एक-सा मिलता है—वही 'क' बराबर 'क' अथवा जीवन कुछ नहीं है। इस प्रकार यह दार्शनिक ज्ञान किसी वस्तु को अस्वीकार तो नहीं करता; किन्तु यह उत्तर देता है कि यह प्रश्न हल करना उसकी शक्ति के बाहर है और उसके लिए हल अनिश्चित ही रहेगा।

इसे समझ चुकने के बाद मैंने यह देखा कि तार्किक ज्ञान के द्वारा अपने प्रश्न का कोई उत्तर खोज निकालना संभव नहीं है और तार्किक ज्ञान के द्वारा मिलनेवाला उत्तर केवल इस बात का सूचक है कि इस प्रश्न का उत्तर प्रश्न के एक भिन्न वक्तव्य के द्वारा, और तभी प्राप्त हो सकता

है जब उसमें असीम के साथ ससीम का संबंध शामिल कर लिया जाए। मैंने समझा कि श्रद्धा एवं विश्वास द्वारा मिलनेवाला उत्तर चाहे कितना ही तर्कहीन और विकृत हो; किन्तु उसमें ससीम के साथ असीम के सम्बन्ध की भूमिका होती है जिसके बिना कोई हल सम्भव नहीं है।

मैंने जिस रूप में इस सवाल को रखा; यह असीम और ससीम के बीच का संबंध उत्तर में अवश्य प्रतिध्वनित हुआ। मुझे किस प्रकार रहना चाहिए? ईश्वरीय नियमों के अनुसार। मेरे जीवन से क्या वास्तविक परिणाम निकलेगा? अनन्त कष्ट वा अनंत आनंद। जीवन में जीवन का वह कौन-सा अर्थ है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं करती?—अनंत प्रभु के साथ सम्मिलन स्वर्ग।

इस प्रकार उस तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के अलावा, जिसे मैं ज्ञान की इति समझता था, अनिवार्य रूप से मुझे स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि समस्त जीवित मानवता के पास एक दूसरे प्रकार का ज्ञान—अतार्किक ज्ञान—भी है जिसे श्रद्धा कहते हैं और जो मनुष्य का जीना संभव करती है। अब भी यह श्रद्धा मेरे लिए उसी प्रकार अबौद्धिक है जैसे यह पहले प्रतीत होती थी; पर अब मैं यह स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता कि सिर्फ इसी के जरिये मनुष्य-जाति को जीवन के इस प्रश्न का उत्तर मिल सकता है और इसलिए इसी के कारण जीवन संभव है। ज्ञान ने हमें यह स्वीकार करने को विवश किया था कि जीवन अर्थहीन है। उसकी वजह से हमारी जिंदगी में रुकावट पैदा हो गई थी और मैं अपना अंत कर देना चाहता था। पर इसी बीच मैंने अपने चारों तरफ फैली मनुष्य-जाति पर निगाह डाली और देखा कि लोग जीते हैं और घोषित भी करते हैं कि उनको जीवन का अर्थ मालूम है। मैंने अपनी तरफ देखा। मैंने तभी तक अपने अंदर जीवन-प्रवाह का अनुभव किया था जब-तक मुझे जीवन के किसी अर्थ का ज्ञान था। इस जगह न सिर्फ दूसरों के लिए, बल्कि मेरे लिए भी श्रद्धा ने जीवन सार्थक कर दिया और जीना संभव हुआ।

जब मैंने दूसरे देशों के लोगों, अपने समकालिकों और उनके पूर्वजों पर ध्यान दिया तो वहां भी मुझे यही बात दिखाई पड़ी। जब से पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ तब से जहां-कहीं भी जीवन है मनुष्य इस श्रद्धा के कारण ही जी सका है और इस श्रद्धा की प्रधान रूप-रेखा सब जगह मिलती है और सदा एक रहती है।

श्रद्धा चाहे कुछ हो, वह चाहे जो उत्तर देती हो और चाहे जिन्हें वह उत्तर दे; पर उसका प्रत्येक उत्तर मनुष्य के सीमित अस्तित्व को एक अर्थ प्रदान करता है—वह अर्थ जिसका कष्ट, विपत्ति और मृत्यु से अंत नहीं होता। इसका मतलब यह है कि सिर्फ श्रद्धा में ही हम जीवन के लिए एक अर्थ और एक संभावना प्राप्त कर सकते हैं। तब, यह श्रद्धा नहीं है? विचार करके मैंने समझा कि श्रद्धा 'अदृश्य की साक्षी' मात्र नहीं है, सिर्फ दैवी प्रेरणा ही नहीं है (इससे श्रद्धा का एक निर्देश-मात्र होता है), सिर्फ ईश्वर के साथ मनुष्य का संबंध ही नहीं है (पहले आदमी को श्रद्धा की और फिर ईश्वर की परिभाषा करनी पड़ती है, ईश्वर के द्वारा श्रद्धा की नहीं); यह सिर्फ उन बातों को मान लेना ही नहीं है जो बताई गई हों, यद्यपि श्रद्धा का आमतौर पर यही मतलब लिया जाता है; श्रद्धा तो मानव-जीवन के प्रयोग का वह ज्ञान है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपना नाश नहीं करता; बल्कि जीता है। श्रद्धा जीवन का बल है। अगर कोई आदमी जीता है तो वह किसी-न-किसी वस्तु से श्रद्धा रखता है। यदि उसमें श्रद्धा नहीं है कि किसी चीज के लिए उसे जीना चाहिए तो वह जी न सकेगा। यदि व ससीम की मिथ्या प्रकृति को नहीं देख और पहचान पाता तो वह ससीम में विश्वास करता है, यदि वह ससीम की मिथ्या प्रकृति को समझ लेता है तो फिर उसके लिए असीम में विश्वास रखना जरूरी है। बिना श्रद्धा के तो वह जी ही नहीं सकता।

मैंने अपने इतने दिनों तक के सारे मानसिक श्रम का स्मरण किया और कांप उठा। अब मेरे सामने यह बात साफ हो गई थी कि अगर आदमी को जीना है तो उसे या तो असीम की तरफ से आंखें मूंद लेनी पड़ेंगी या फिर

जीवन के प्रयोजन की ऐसी व्याख्या स्वीकार करनी पड़ेगी जिससे ससीम और असीम के बीच संबंध स्थापित हो सके। ऐसी व्याख्या पहले भी मेरे सामने थी; परन्तु जब तक मैं ससीम में विश्वास रखता रहा तब तक मुझे इस व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं थी और मैं तर्क की कसौटी पर कसकर उसकी परख करने लगा। तर्क के प्रकाश में मेरी पहले की संपूर्ण व्याख्या टुकड़े-टुकड़े हो गई। पर एक वक्त ऐसा आया कि ससीम में से मेरा विश्वास उठ गया। तब मैं जितना कुछ जानता था उसके सहारे एक बौद्धिक आधार का निर्माण करने लगा—एक ऐसी व्याख्या की खोज में लगा, जो जीवन को एक अर्थ, एक तात्पर्य प्रदान कर सके; लेकिन मैं कुछ भी न बन पाया। दुनिया के सर्वोच्च मस्तिष्कों की तरह मैं भी इसी नतीजे पर पहुंचा कि 'क' 'क' के बराबर है। मुझे उस नतीजे पर बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि इसके सिवाय दूसरा कोई नतीजा निकल ही न सकता था।

जब मैंने प्रयोगात्मक विज्ञान में जीवन के सवाल का जवाब ढूंढना शुरू किया तब मैं कर क्या रहा था? मैं जानना चाहता था कि मैं क्यों जीता हूं और इसके लिए मैंने उन सब चीजों का अध्ययन किया जो मेरे बाहर हैं। इसमें शक नहीं कि मैंने बहुत-सी बातें सीखीं; पर जिस चीज की मुझे जरूरत थी वह न मिली।

जब मैंने दार्शनिक विज्ञान में जीवन के सवाल का जवाब ढूंढा तब मैं क्या कर रहा था? मैं उन लोगों के विचारों का अध्ययन कर रहा था जिन्होंने अपने को मेरी स्थिति में पाया था और जो इस सवाल का—'मैं क्यों जीता हूं?'—कोई जवाब न पा सके थे। इस खोज में मैं उससे ज्यादा कुछ न जान सका जो खुद जानता था—यानी यह बात कि कुछ भी जाना नहीं जा सकता।

मैं क्या हूं? अनंत का एक अंश। इन थोड़े शब्दों में सारी समस्या निहित है।

क्या यह मुमकिन है कि मनुष्य ने अपने से यह प्रश्न करना सिर्फ कल शुरू किया है? क्या मुझसे पहले किसी ने इस प्रश्न को हल करने

की कोशिश ही नहीं की? यह प्रश्न जो इतना सीधा है और हरेक बुद्धिमान बच्चे की जबान पर उठता है।

निस्संदेह यह प्रश्न उस जमाने से पूछा जाता रहा है जबसे इंसान की शुरुआत हुई। और इसांन की शुरुआत से ही इस प्रश्न के हल के बारे में यह बात भी उतनी ही साफ रही है कि ससीम से ससीम और असीम से असीम की तुलना इस काम के लिए अपर्याप्त है। इसी तरह से मनुष्य के आरंभ काल से ससीम असीम के बीच के संबंध की खोज करते हैं और उसे उन्होंने व्यक्त भी किया है।

इन सब धारणाओं को, जिनमें ससीम का मेल असीम के साथ बैठाया गया है और जीवन के प्रयोजन की प्राप्ति की गई है; यानी ईश्वर की धारणा, संकल्प-शक्ति की धारणा, पुण्य की धारणा, हम तर्क की कसौटी पर परखते हैं। और ये सब धारणाएं बुद्धि की आलोचना का सामना करने में अक्षम रहती हैं।

अगर यह बात इतनी भयंकर न होती तो जिस अहंकार और आत्म-तुष्टि के साथ हम बच्चों की तरह घड़ी के पुर्जे-पुर्जे अलग कर देने और स्प्रिंग या कमानी को निकालकर उसका खिलौना बना लेने के बाद इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि घड़ी चल क्यों नहीं रही है, वह अत्यंत असंगत और भद्दी मालूम पड़ती।

ससीम और असीम के बीच परस्पर-विरोध का हल और जीवन के प्रश्न का ऐसा उत्तर, जो उसका जीना सम्भव कर सके, आवश्यक और बहुमूल्य है। और यही एक हल है जिसे हम हर जगह, हर वक्त और सब तरह के लोगों में पा सकते हैं : यह हल, जो मानव-जीवन के आदिम युग से चला आ रहा है; यह हल, जो इतना कठिन है कि हम इसके जैसा दूसरा कोई हल निर्माण करने में असमर्थ हैं। और इस हल को हम बड़े हलकेपन के साथ खत्म कर देते हैं, इसलिए कि फिर वही सवाल खड़ा कर सकें जो हर एक के लिए स्वाभाविक है और जिसका हमारे पास कोई जवाब नहीं है।

अनन्त ईश्वर, आत्मा की दिव्यता, ईश्वर से मानवीय बातों का संबंध, आत्मा का ऐक्य और अस्तित्व, नैतिक पाप-पुण्य की मानवीय धारणा—ये सब ऐसी धारणाएं हैं जो मानवीय चिंतन की प्रच्छन्न असीमता में निर्मित होती हैं—ये वे धारणाएं हैं जिनके बिना न जीवन और न मेरा अस्तित्व संभव है। फिर भी संपूर्ण मानव-जाति के उस सारे श्रम का तिरस्कार करके मैं उसे नये सिरे से और अपने मनमाने ढंग पर बनाना चाहता था।

यह ठीक है कि उस वक्त मैं इस तरह सोचता न था; पर इन विचारों के अंकुर तो मेरे अन्दर आ चुके थे। सबसे पहले जो मैंने यह समझा कि शॉपनहार और सुलेमान का साथ देने की मेरी बात मूर्खतापूर्ण है : हम देखते हैं कि जीवन एक बुराई है, फिर भी हम जीते रहते हैं; यह स्पष्टतः मूर्खतापूर्ण है, क्योंकि अगर जीवन निरर्थक है और मैं सिर्फ जो कुछ सार्थक है उसी का भक्त हूं तो मुझे जीवन का अन्त कर देना चाहिए और तब कोई इसे चुनौती देनेवाला न होगा। दूसरी बात मैंने यह अनुभव की कि हमारे सारे तर्क धुरी और दांतों से अलग हो जानेवाले पहिये की भाँति एक भ्रमपूर्ण वृत्ति में ही घूम रहे हैं। चाहे हम कितना ही और कैसी भी अच्छी तरह से तर्क करें, हमें उस सवाल का जवाब नहीं मिल सकता। वहां तो सदा 'क' 'क' के बराबर ही रहेगा, इसलिए संभवतः हमारा यह मार्ग गलत है। तीसरी बात जो मेरी समझ में आने लगी, यह थी कि श्रद्धा ने इस प्रश्न के जो उत्तर दिये हैं उनमें गंभीरतम मानव-ज्ञान एवं विवेक संचित है और यह कि मुझे तर्क के नाम पर इनको इनकार करने का कोई अधिकार नहीं था, और वे ही ऐसे उत्तर हैं जो जीवन के प्रश्न का जवाब दे पाते हैं।

: 10 :

मैंने इसे समझ तो लिया; पर इससे मेरी स्थिति कुछ ज्यादा अच्छी नहीं हुई। अब मैं ऐसे हर एक विश्वास को स्वीकार कर लेने को तैयार था

जिसमें बुद्धि का सीधा तिरस्कार न होता हो—क्योंकि वैसा होने पर वह असत्य हो जाता है। मैंने पुस्तकों के सहारे बौद्ध धर्म और इस्लाम का अध्ययन किया; सबसे अधिक मैंने पुस्तकों और अपने आस-पास के लोगों के ईसाई-धर्म का अध्ययन किया।

स्वभावत: पहले मैं अपनी मंडली के कट्टर मतावलंबियों यानी उन लोगों की तरफ झुका जो विद्वान थे—मैं गिर्जों के धर्म-शास्त्र-वेत्ताओं, पादरियों तथा इवैंजेलिकलों (जो ईसा द्वारा विश्व के मुक्ति-दान के सिद्धांत में विश्वास रखते हैं) की तरफ झुका। मैंने इन आस्तिकों से उनके विश्वासों के बारे में सवाल किये और यह भी पूछा कि वे जीवन का क्या प्रयोजन समझते हैं?

यद्यपि मैंने उनको हर तरह की छूट दी और हर तरह से विवाद बचाने की कोशिश की; फिर भी मैं इन लोगों के धर्म स्वीकार न कर सका। मैंने देखा कि वे जिन बातों को अपना धर्म बताते हैं उनके सहारे जीवन का प्रयोजन स्पष्ट होने की जगह उल्टा धुधंला हो जाता है। और वे स्वयं अपने विश्वासों से कुछ इसलिए नहीं चिपके हुए हैं कि जीवन के उस प्रश्न का उत्तर दे सकें, जिसने मुझे श्रद्धा तक पहुंचाया, बल्कि कुछ दूसरे ही उद्देश्यों के कारण उनको ग्रहण किए हुए है जो मेरे प्रतिकूल हैं।

मुझे याद है कि इन लोगों के संसर्ग के बार-बार आशान्वित होने के बाद मुझे भय होने लगा कि कहीं मैं निराशा के पूर्ववर्ती गर्त्त में न गिर जाऊं।

वे लोग जितनी ही पूर्णता के साथ अपने सिद्धान्त मुझे समझाते, उतनी ही स्पष्टता के साथ मुझे उनकी गलतियां नजर आतीं? मैं अनुभव करने लगा कि उनके विश्वासों में जीवन के प्रयोजन की व्याख्या की खोज करना व्यर्थ है।

यद्यपि वे अपने सिद्धांतों में ईसाई-धर्म के सत्य के साथ बहुतेरी अनावश्यक और अनुचित बातें मिला देते थे; पर इसके कारण मेरे मन में उनके प्रति विरोध नहीं पैदा होता था। उनकी तरफ से मन उचटता और

भागता इसलिए था कि इन लोगों का जीवन भी मेरी ही तरह था। अंतर केवल इतना था कि वे अपनी शिक्षाओं और उपदेशों में जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन करते थे, उनका दर्शन उनके जीवन में नहीं होता था। मैंने साफ-साफ अनुभव किया कि वे अपने को धोखा दे रहे हैं और मेरी तरह ही वे जीवन का इससे ज्यादा कुछ तात्पर्य नहीं समझते कि जब तक जिंदगी है तब तक जिओ और जो कुछ मिले उपभोग करो। अगर उनको जीवन के ऐसे प्रयोजन का ज्ञान होता जो क्षति, दु:ख और मृत्यु का भय नष्ट कर देता है तो फिर वे इन चीजों से इतने डरते न होते। पर मेरी श्रेणी के ये आस्तिक, ठीक मेरी ही तरह, वैभव और संपन्नता के बीच रहते हुए, उनकी वृद्धि अथवा रक्षा करने का प्रयत्न करते थे। वे भी विपत्ति, पीड़ा और मृत्यु के भय से पीड़ित थे और मेरी तरह या हम-जैसे अन्य नास्तिकों की तरह ही वे अपनी वासनाओं एवं आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए जीते थे—वे उतनी ही बुरी तरह जीवन व्यतीत करते थे जिस तरह नास्तिक करते हैं।

कोई तर्क मुझे उनके विश्वास की सच्चाई में यकीन नहीं दिला सकता था। यदि उनके आचरण में भी गरीबी, बीमारी और मौत का वह भय न दिखाई पड़ता जो मुझमें था, तो मैं मानता कि वे जीवन का कुछ अर्थ समझते हैं। मुझे अपने श्रेणी के आस्तिकों के आचरण में ऐसा दिखाई नहीं पड़ा। इसके विपरीत मैंने उन लोगों को इस तरह का आचरण करते देखा, जो जबर्दस्त नास्तिक थे;[1] आस्तिकों में कहीं वैसा आचरण दिखाई नहीं पड़ा।

1. टॉलस्टॉय का यह वाक्य बड़ा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उन्होंने इस जमाने में क्रांतिकारी या 'जनता की ओर लौटो' आंदोलन का बहुत ही कम जगहों में जिक्र किया है। इस आंदोलन में बहुतेरे युवक-युवतियों ने अपने गृह-संपत्ति और जीवन का बलिदान किया था। टॉल्स्टॉय और इन क्रांतिकारियों के विचारों में समानता थी और दोनों किसी-न-किसी रूप में मानते थे कि समाज के ऊपरी तल के लोग या उच्च वर्ग परान्नभोगी हैं और उन लोगों का ही खून चूस रहे हैं जो उनका बोझ अपने कंधों पर उठाये हुए हैं।—सं०

तब मैंने समझा कि मैं उस श्रद्धा की खोज नहीं कर रहा हूं जो इन लोगों के विश्वासों में निहित है और यह कि उनका विश्वास कोई सच्चा विश्वास नहीं है, बल्कि जीवन की एक इंद्रियासक्त आत्म-तुष्टि मात्र है।

मैंने समझ लिया कि इस तरह की श्रद्धा चाहे अनुताप युक्त सुलेमान को उसकी मृत्यु-शय्या पर, यदि शांति नहीं तो कम-से-कम कुछ भुलावा दे सके; पर यह उन करोड़ों मनुष्यों की कोई सेवा नहीं कर सकती जिनका काम दूसरों की मेहनत पर मौज उड़ाना नहीं बल्कि जीवन की सृष्टि करना है।

अगर संपूर्ण मानव-जाति को जीने के लिए समर्थ बनाना है और अगर हम चाहते हैं कि वे जीवन का प्रयोजन समझते हुए जीवन बितायें तो इसके लिए इन करोड़ों आदमियों को श्रद्धा का एक दूसरा ही रूप, सच्चा रूप समझना चाहिए। वस्तुतः शॉपनहार और सुलेमान के साथ ही मैंने जो अपने जीवन का अन्त नहीं किया तो कुछ उससे मुझे श्रद्धा के अस्तित्व में विश्वास नहीं हुआ; श्रद्धा के अस्तित्व में विश्वास तो मुझे यह देखकर हुआ कि ये करोड़ों आदमी जीते रहे हैं और जी रहे हैं और उनकी जीवन-धारा में सुलेमान और हम-जैसे लोग बहते रहे हैं।

तब मैं दीन-हीन, सीधे-सादे और अशिक्षित आस्तिकों यानी तीर्थयात्रियों, पुरोहितों, संप्रदायों और किसानों के नजदीक खिंचने लगा। ये मामूली आदमी भी उसी ईसाई-धर्म को मानते थे जिसको मानने का दावा हमारे दायरे के कृत्रिम आस्तिक लोग करते थे। इन आदिमयों में भी मैंने देखा कि ईसाई-सत्यों के साथ बहुतेरे अंध-विश्वासों को मिला दिया गया है; लेकिन दोनों में फर्क यह था कि हमारे वर्ग के आस्तिकों के लिए तो ये अन्ध-विश्वास सर्वथा अनावश्यक थे और वे उनके जीवन से मेल न खाते थे—वे एक तरह की विषयासक्ति के झुकाव के द्योतक थे; पर श्रमिक लोगों के बीच प्रचलित अन्ध-विश्वास उनके जीवन के अनुरूप थे और उनका उनके जीवन से कुछ ऐसा मेल बैठता था कि उन अन्ध-विश्वासों के बिना उनके जीवन की कल्पना ही न की जा सकती थी—

वे उनके जीवन की एक जरूरी शर्त थे। हमारे वर्ग दायरे के आस्तिकों की सारी जिन्दगी उनके विश्वासों के प्रतिकूल थी; पर श्रमिक आस्तिकों की सारी जिन्दगी जीवन के उस अर्थ को दृढ़ और पुष्ट करती थी जो वे श्रद्धा से प्राप्त करते थे। इसलिए मैं साधारण लोगों के जीवन और विश्वास पर अच्छी तरह ध्यान देने लगा और जितना ही मैं इस पर विचार करता, उतना ही मेरा विश्वास पक्का होता जाता था कि उनके पास सच्ची श्रद्धा है—ऐसी श्रद्धा जिसकी उनको जरूरत है और जो उनके जीवन को सार्थक करती और उनका जीना संभव बनाती है। हमारे वर्ग में जहां श्रद्धा-रहित जीवन संभव है और हजार में मुश्किल से एक आदमी अपने को आस्तिक कहता है, वहां उनमें मुश्किल से हजार में एक नास्तिक मिलेगा। मैंने अपने वर्ग में देखा था कि लोगों का सारा जीवन बेकारी, सुस्ती, राग-रंग और असंतोष में बीतता है; पर इसके विपरीत इन साधारण आदमियों में मैंने यह देखा कि उनका जीवन घोर श्रम में बीतता है, और वे अपने जीवन से संतुष्ट हैं। हमारे वर्ग के लोग दुःख व कष्ट पड़ने पर भाग्य का विरोध करते और उसे कोसते हैं, परन्तु इसके विपरीत ये लोग बीमारी और दुःख को बिना किसी व्यग्रता, बगैर किसी परेशानी व विरोध के तथा इस शांत एवं दृढ़ विश्वास के साथ स्वीकार कर लेते हैं कि जो होता है सब अच्छा ही है। हममें जो जितना ही चतुर और बुद्धिमान है, वह उतना ही जीवन का प्रयोजन कम समझता है और जीवन के दुःखों और मृत्यु में एक कटु व्यंग देखता है; परन्तु इसके विपरीत ये साधारण आदमी जीते हैं और दुःख भी भोगते हैं; वे मृत्यु और कष्ट को शांति एवं स्थिरतापूर्वक, और अधिकांशतया हँसी-खुशी के साथ ग्रहण करते हैं। हमारे वर्ग-दायरे में शांतिपूर्ण मृत्यु, भय और निराशा से रहित मृत्यु, दुर्लभ अपवाद है, परन्तु इसके विपरीत हम लोगों में चिंतापूर्ण, छटपटाहट से भरी हुई और दुःखपूर्ण मृत्यु बहुत ही कम देखी जाती है। और ऐसे लोगों से दुनिया भरी पड़ी है, जिनके पास उन सब वस्तुओं का सर्वथा अभाव है, जो हमारे लिए या सुलेमान के लिए जीवन की सबसे बड़ी अच्छाई है,

फिर भी वे अत्यधिक आनंद अनुभव करते हैं। मैंने अपने आस-पास और दूर तक देखा। मैंने बीत हुए युग के और आजकल के असंख्य लोगों के जीवन पर ध्यान दिया। इनमें जीवन का अर्थ समझने वाले और जीने एवं मरने में समर्थ एक-दो या दस-बीस नहीं, बल्कि सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों मनुष्य मुझे दिखाई पड़े। और यद्यपि उनमें भिन्न-भिन्न रंग-ढंग, आचार-व्यवहार, मन, शिक्षा और स्थिति के आदमी थे, फिर भी मेरे अज्ञान के सर्वथा प्रतिकूल वे सब जीवन और मृत्यु का अर्थ समझते थे तथा अभाव एवं दु:ख-कष्ट सहते हुए शांतिपूर्वक काम करते, जीते तथा मरते थे—उनको इनमें मिथ्या अहंकार नहीं, बल्कि कुछ अच्छाई दिखाई देती थी।

मैंने इन आदमियों प्रेम करना सीखा। जितनी ही मुझे उन लोगों के जीवन की जानकारी होती गई—उन लोगों के जीवन की जो जी रहे हैं तथा उनकी भी जो मर चुके हैं; पर उनके बारे में मैंने पढ़कर या सुनकर जानकारी हासिल की है—उतना ही उनके लिए मेरा प्रेम बढ़ता गया और मेरे लिए जीना आसान होता गया। लगभग दो वर्षों तक मेरी यह हालत रही और इस बीच मेरे अन्दर एक भारी परिवर्तन हो गया—वह परिवर्तन, जो बहुत दिनों से धीरे-धीरे घनीभूत हो रहा था और जिसकी आशा मुझमें सदा बनी रही थी। इसका नतीजा यह हुआ कि अपने वर्ग के लोगों अर्थात् धनवान और विद्वान आदमियों का जीवन न सिर्फ मेरे निकट फीका और नीरस हो गया; बल्कि मेरी दृष्टि में उसका कोई मूल्य ही न रह गया। अपने लोगों का संपूर्ण आचरण, वाद-विवाद, कला और विज्ञान मेरे सामने एक नई रोशनी में आया। मैंने समझ लिया कि यह सब आत्म-असंयम मात्र है और उनमें कुछ अर्थ लेना असंभव है; इसके प्रतिकूल जीवन का निर्माण करनेवाले श्रमिक लोगों का जीवन मुझे सच्चे अर्थ से भरा दिखाई पड़ा। मैंने समझा कि यही जीवन है और इस जीवन से प्राप्त होनेवाला अर्थ ही सच्चा है : और मैंने इसे स्वीकार कर लिया।

: 11 :

मुझे याद आया कि जब मैं उन आदमियों को इन विश्वासों की घोषणा करते देखता था, जिनके जीवन और आचरण में उनका विरोध होता था तो इन्हीं विश्वासों के प्रति मेरे हृदय में विरक्ति पैदा होती थी और वे मुझे निस्सार प्रतीत होते थे; पर जब मैंने उन लोगों को देखा जो इन विश्वासों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते थे तब उन्हीं विश्वासों ने मुझे अपनी ओर आकर्षित किया और वे मुझे ठीक मालूम पड़ने लगे। इन बातों की याद आने पर मैंने समझा कि क्यों तब मैंने इन विश्वासों को अस्वीकार कर दिया था और उन्हें निरर्थक पाया, और क्यों अब उन्हीं को स्वीकार करता हूं और उन्हें अर्थ एवं प्रयोजन से पूर्ण पाता हूं। मैं समझ गया कि मैंने गलती की थी और क्यों गलती की थी? इस गलती का कारण मेरा गलत तरीके पर सोचना उतना न था जितना मेरा गलत तरीके पर जीवन व्यतीत करना था। मैंने समझ लिया कि मेरे किसी विचार-दोष ने सत्य को मुझसे छिपा नहीं रखा था, बल्कि आकांक्षाओं और वासनाओं की तृप्ति के प्रयत्न में बीतने वाले मेरे विषयासक्त जीवन ने ही इस सत्य को मेरी आंखों की ओट कर रखा था। अब यह भी मेरी समझ में आ गया कि मेरा प्रश्न कि 'मेरा जीवन क्या है' उसका उत्तर—'वह एक बुराई है'—बिल्कुल ठीक था। गलती सिर्फ इतनी थी कि यह उत्तर सिर्फ मेरे जीवन की ओर संकेत करता था, पर मैं इसे सब लोगों के सामान्य जीवन पर घटाता था। अब मैंने फिर अपने से प्रश्न किया कि मेरा जीवन क्या है और मुझे उत्तर मिला : एक बुराई और असंगति। और सचमुच मेरा जीवन—भोग-विलास और आकांक्षाओं का जीवन—बुरा और निरर्थक था, इसलिए वह उत्तर—'जीवन एक बुराई और असंगति है'—सिर्फ मेरे जीवन की ओर संकेत करता था, न कि सामान्य मानव जीवन की ओर। तब मैंने उस सत्य को समझा, जिसे बाद में 'गोस्पेल' (महात्मा ईसा के सदुपदेशों) में पाया, कि 'मनुष्य प्रकाश की अपेक्षा अंधकार से ज्यादा प्रेम करते हैं; क्योंकि उनके आचरण पाप-पूर्ण हैं। प्रत्येक पापी आदमी प्रकाश से घृणा

करता है और इसलिए प्रकाश के समीप नहीं जाता कि उसके आचरणों और कामों का तिरस्कार किया जायेगा।' मैंने यह भी अनुभव किया कि जीवन के अर्थ को समझने के लिए पहले तो यह जरूरी है कि हमारी जिंदगी बुराई से भरी और निरर्थक न हो; और फिर उसकी व्याख्या करने के लिए विवेक की आवश्यकता पड़ती है। तब मेरी समझ में आया कि क्यों इतने लम्बे अर्से तक मैं ऐसे स्पष्ट सत्य के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहा और यह भी अगर किसी को मानव-जाति के जीवन के विषय में सोचना और बोलनना हो तो उसे संपूर्ण जाति के जीवन के बारे में सोचना और बोलना चाहिए, न कि उन लोगों के जीवन के विषयों में जो पंगु और परोपजीवी जीवन बिताते हैं। यह सत्य तो सदा उतना ही सच्चा था जितना दो और दो मिलकर चार होते हैं। पर मैंने इसे स्वीकार नही किया था; क्योंकि दो और दो चार मान लेने पर मुझे यह भी मानना पड़ता कि मैं बुरा हूं और मेरे लिए यह अनुभव करना कि मैं भला हूं; दो-दो बराबर चार के स्वीकार करने से कहीं ज्यादा जरूरी और महत्त्वपूर्ण था। यह ज्ञान होने पर मैं भले आदमियों के प्रति आकर्षित हुआ, उनको प्यार करने लगा, अपने प्रति मन में घृणा पैदा हुई और मैंने सत्य को स्वीकार किया। अब सब बातें मेरे सामने स्पष्ट हो गईं।

अगर एक जल्लाद, जिसकी सारी जिंदगी लोगों को दारुण यंत्रणा देने और उनका सिर काटने में बीती हो,—या एक शराबी व पागल जो एक ऐसे अंधेरे कमरे में जिंदगी भर रहा हो जिसे उसे अपवित्र कर रखा है और जो सोचता हो कि इसे छोड़कर बाहर निकलते ही वह नष्ट हो जायेगा—अपने से सवाल करे कि 'जीवन क्या है' तो वह इसके सिवाय और क्या जवाब पा सकता है कि जीवन सबसे बड़ी बुराई है। इस पागल का जवाब बिल्कुल ठीक होगा; पर वहीं तक जहां तक वह स्वयं उस पर लागू होता है। अगर कहीं मैं भी ऐसा ही एक पागल होऊं? और कहीं हम सब धनवान और निठल्ले आदमी इसी तरह पागल हों तब? मैंने अनुभव किया कि हम सब सचमुच ऐसे ही पागल हैं। कम-से-कम मैं अवश्य ऐसा था।

चिड़िया का निर्माण ही इस तरह का होता है कि वह जरूरी तौर-पर उड़े, चारा इकट्ठा करे और अपना घोंसला बनाये, और जब मैं किसी चिड़िया को ऐसा करते देखता हूं तो उसके आनंद से मुझे भी खुशी होती है। बकरी, खरगोश और भेड़िये भी इस तरह बनाये गये हैं कि वे अपने लिए भोजन जुटायें, बच्चे पैदा करें और कुटुम्ब को खिलायें, उनका पालन-पोषण करें; और जब वे ऐसा करते हैं तो मुझे दृढ़ विश्वास होता है कि वे सुखी हैं और उनका जीवन ठीक तौर से बीत रहा है। फिर आदमी को क्या करना चाहिए? उसे भी जानवरों की तरह अपनी जीविका उपार्जन करनी चाहिए। दोनों में सिर्फ एक अन्तर है कि अगर आदमी यह काम अकेले करेगा तो मिट जायेगा; उसे जीविका न सिर्फ अपने लिए बल्कि सबके लिए प्राप्त करनी चाहिए। और जब वह ऐसा करता है तब मुझे पक्का विश्वास हो जाता है कि वह सुखी है और उसका जीवन ठीक तौर पर बीत रहा है। पर मैंने अपने उत्तरदायी जीवन के तीस वर्षों में क्या किया? सबके लिए जीविका-उपार्जन करना तो दूर, मैंने कभी अपने लिए भी खाद्य-सामग्री पैदा न की? मैं परान्नजीवी की तरह जीता रहा और अपने से सवाल करता रहा कि मेरे जीवन का प्रयोजन क्या है? मुझे उत्तर मिला: 'कोई प्रयोजन नहीं।' अगर मानव जीवन का अर्थ उसे पुष्ट करने में है तो फिर मैं—जो तीस साल तक जीवन का समर्थन और पुष्टि करने में नहीं, बल्कि अपने अन्दर ओर दूसरों के अन्दर उसका विनाश करने में लगा रहा—इसके सिवाय और कोई जवाब कैसे प्राप्त कर सकता था कि मेरा जीवन निरर्थक और दूषित था!...निस्संदेह वह निरर्थक और दूषित—दोनों था।

विश्व-जीवन किसी के संकल्प से चल रहा है—सारे विश्व के जीवन और हमारे जीवन से कोई अपना तात्पर्य सिद्ध करता है। उस संकल्प-शक्ति का अर्थ समझने की आशा करने के लिए पहले हमसे जिस कार्य की आशा की जाती है, उसे करना चाहिए। लेकिन यदि मैं वह न करूँ जिसकी आशा मुझसे की जाती है तो मैं कभी समझ न सकूंगा कि मुझसे क्या करने की आशा की जाती है और यह समझना तो और भी

कठिन होगा कि हम लोगों से और सारे विश्व से क्या करने की आशा की जाती है।

अगर एक नंगे भिखारी को सड़क से पकड़कर सुन्दर भवन में ले जाकर रखा जाय और उसे अच्छी तरह खिलाया-पिलाया जाय और उसे ऊपर-नीचे एक हैंडिल घुमाने का काम दिया जाय तो प्रकट है कि इस बात पर बहस करने के पहले, कि क्यों उसे सड़क से वहां लाया गया और क्यों उसे हैंडिल घुमाना चाहिए और यह कि क्या वहां का सारा काम सुव्यवस्थित है, मतलब और सब बातों के पहले उसे हैंडिल घुमाना चाहिए। अगर वह हैंडिल को घुमायेगा तो उसे स्वयं पता चल जायेगा कि इससे एक पंप चलाया जाता है और पंप के जरिये पानी निकलता है और उस पानी से बाग की क्यारियों की सिंचाई होती है। तब वह पंपिंग स्टेशन से दूसरी जगह ले जाया जायेगा, वहां फल चुनकर इकट्ठे करेगा और अपने प्रभु के आनंद में साझीदार होगा; इस तरह धीरे-धीरे उन्नति करते हुए और छोटे कार्यों से बड़ों कार्यों को करते हुए वह दिन-दिन वहां की व्यवस्था की अधिक जानकारी प्राप्त करता जायेगा और इस तरह जब वह स्वयं वहां की व्यवस्था में भाग लेने लगेगा तो उसके मन में यह प्रश्न करने का विचार ही न उठेगा कि वह क्यों वहाँ है, और इसमें सन्देह ही नहीं कि वह प्रभु की बुराई कभी न करेगा।

इसी तरह वे लोग यानी सीधे-सादे, अशिक्षित श्रमिक, जिन्हें हम जानवर समझते हैं, उसकी इच्छा का पालन करते हैं प्रभु की बुराई नहीं करते; लेकिन हम बुद्धिमान लोग प्रभु का दिया भोजन तो कर लेते हैं; किंतु प्रभु जो चाहता है उसे नहीं करते—करना तो दूर रहा उल्टे एक गोल में बैठकर बहस करते हैं : 'क्यों हमें उस हैंडिल को चलाना चाहिए? क्या यह मूर्खतापूर्ण नहीं है?' हम लोग ऐसे ही निर्णय करते हैं कि प्रभु मूर्ख है या उसका अस्तित्व ही नहीं है, और हम बुद्धिमान हैं। पर हम सिर्फ यही अनुभव कर पाते हैं कि हम बिल्कुल निरर्थक हैं और और हमें किसी तरह अपने से पिंड छुड़ाना चाहिए।

: 12 :

बौद्धिक ज्ञान के भ्रम की चेतना ने मुझे फालतू मुक्ति, तर्क अथवा विवाद के प्रलेभन से छुड़ाने में सहायता की। इस विश्वास से कि सत्य का मान तदनुकूल आचरण से ही हो सकता है, मुझे अपनी जीवन-विधि के औचित्य में संदेह पैदा हुआ; लेकिन मेरी रक्षा केवल इस कारण हुई कि मैं सबसे कटकर अलग रहना छोड़ सका और श्रमिक लोगों के सीधे-सादे जीवन को देख सका तथा यह समझ सका कि केवल यही सच्चा जीवन है। मैंने समझ लिया कि यदि मैं जीवन और उसके अर्थ को समझना चाहूं तो मुझे परान्नजीविका नहीं, बल्कि वास्तविक जीवन बिताना चाहिए और मानव-जाति ने जीवन को जो अर्थ प्रदान किया है उसे ग्रहण करना और उस जीवन में निमग्न होकर उसको पहचानना चाहिए।

उस जमाने में मेरे ऊपर जो बीती उसकी कथा इस प्रकार है। पूरे साल भर तक, जब प्रतिक्षण मेरे मन में यह प्रश्न उठता था कि क्यों न मैं गोली या फांसी की रस्सी से सारे झगड़े का खात्मा कर दूं, तभी उन विचार-धाराओं के साथ-साथ जिनके बारे में मैं ऊपर जिक्र कर चुका हूं, मेरा हृदय एक वेदनामयी अनुभूति से दब रहा था। इसे मैं ईश्वर की खोज के सिवाय और कुछ कहने में असमर्थ हूं।

मैं कहना चाहता हूं कि ईश्वर की इस खोज में तर्क नहीं, अनुभूति थी, क्योंकि यह खोज मेरे विचार-प्रवाह से नहीं पैदा हुई थी, (उसमें उसका प्रत्यक्ष विरोध भी था) बल्कि हृदय से उद्भूत हुई थी। यह किसी अज्ञात प्रदेश में अनाथ और इकले पड़ जाने और किसी से सहायता पाने की आशा की भावना थी।

यद्यपि मुझे पूरा विश्वास था कि ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करना असंभव है (कांट ने दिखा दिया था, और मैं उसकी बात को समझता था कि उसे सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता), फिर भी ईश्वर की प्राप्ति की चेष्टा में लगा रहा; मैंने आशा रखी कि वह मुझे प्राप्त होगा और पुराने स्वभाव के कारण उसकी प्रार्थना और विनय करता रहा जिसकी

मुझे खोज थी; पर जिसे अभी तक मैंने पाया न था। कांट और शॉपनहार ने जिन तर्कों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करना असंभव बताया था उन पर मैं मन में विचार करने लगा। मैंने उसकी जांच शुरू की और उनका खंडन करने लगा। मैंने अपने से कहा कि कारण, काल एवं आकाश की भांति कोई विचार-श्रेणी नहीं है। यदि मेरा अस्तित्व है तो इसका कोई कारण अवश्य होगा और फिर इन कारणों का भी कोई कारण होगा। और सबका जो मूल कारण है उसे ही लोगों ने 'ईश्वर' कहा है। मैं इस विचार पर रुका और अपनी सारी शक्ति से उस आदि कारण की उपस्थिति अनुभव करने की कोशिश की और ज्यों ही मैंने स्वीकार कर लिया कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जिसके वश में मैं हूं, त्यों ही मैंने अनुभव किया कि अब मेरे लिए जीना संभव है। लेकिन मैंने अपने से पूछा: वह कारण, वह शक्ति क्या है? उसका चिंतन मुझे किस प्रकार करना चाहिए? उस शक्ति के साथ जिसे मैं 'ईश्वर' कहता हूं मेरा सम्बन्ध क्या है? इन सवालों के मुझे वही पूर्व-परिचित उत्तर मिले : 'वह स्रष्टा और पालक है।' इस जवाब से मुझे सन्तोष नहीं हुआ, और मैंने अनुभव किया कि जिस चीज की मुझे अपने जीने के लिए आवश्यकता है उसे मैं अपने अन्दर-ही-अन्दर खो रहा हूं। मैं डर गया और जिस ईश्वर की खोज में था, उसी से प्रार्थना करने लगा कि वह मेरी सहायता करे। लेकिन मैं जितनी ही प्रार्थना करता था उतना ही मुझे यह स्पष्ट होता गया कि 'वह' मेरी नहीं सुनता है और कोई ऐसा नहीं है जिसके सामने मैं अपनी पुकार करूं तब हृदय की गहरी निराशा के साथ, मैंने कहा : 'प्रभु! मुझ पर कृपा करो। मेरी रक्षा करो। हे नाथ! मुझे ज्ञान दो!' परन्तु किसी ने मुझ पर कृपा नहीं की और मैं अनुभव करने लगा कि मेरे जीवन की गति रुक रही है।

लेकिन हर तरफ से टकराकर बार-बार मैं इसी नतीजे पर पहुंचता कि बिना किसी कारण या हेतु या प्रयोजन के इस संसार में मेरा आगमन सम्भव नहीं है; मैं पक्षी के उस बच्चे की तरह नहीं हो सकता जो एकाएक अपने घोंसले से गिर पड़ा हो। और यदि मैं मान भी लूं कि बात ऐसी ही

है और मैं पीठ के बल लंबी घासों पर पड़ा हुआ चीख रहा हूं, तब भी तो मैं चीखता इसलिए हूं कि मैं जानता हूं कि कि एक मां ने मुझे अपने पेट में बढ़ाया, सेया, जन्म दिया और चारा चुगा-चुगाकर मुझे बड़ा किया है तथा वह मुझे प्यार करती है। तब वह—वह मां कहां है? अगर मुझे त्याग दिया गया है तो वह कौन है जिसने मुझे त्यागा है? मैं अपने-से यह बात छिपा नहीं सकता कि किसी-न-किसी ने मुझे जन्म दिया, पाला और मुझे प्रेम किया है। तब यह 'कोई' कौन है? फिर वही उत्तर 'ईश्वर' तब वह मेरी खोज, मेरी निराशा और मेरे संघर्ष को जानता है और देख रहा है।

तब मैंने अपने मन में कहा—'उसका अस्तित्व है।' इसे स्वीकार करने के अनन्तर क्षण भर में मेरे अन्दर जीवन उठ खड़ा हुआ और मुझे जीवन की संभवनीयता और आनन्द का अनुभव हुआ। पर फिर वही बात हुई; ईश्वर के अस्तित्व की इस स्वीकृति के बाद मैं उसके साथ अपने संबंध का पता लगाने चला; और फिर मैंने उस ईश्वर की कल्पना की, जो हमारा स्रष्टा है और जिसने अपने पुत्र को हमारे उद्धार के लिए पृथ्वी पर भेजा, बस जगत् तथा मुझसे पृथक वह ईश्वर फिर मेरी आंखों के सामने ही बर्फ के टुकड़े की तरह पिघलकर बह गया; उसका कोई चिह्न नहीं रह गया और फिर मेरे अंदर जीवन का वह स्रोत सूख गया; निराशा से मेरा मन भर गया और मैंने अनुभव किया कि सिवाय अपनी हत्या कर डालने के अब मैं और कुछ नहीं कर सकता। और सबसे बुरी बात तो यह थी कि मैं अनुभव करता था कि मैं अपने को मार भी नहीं सकता।

केवल दो या तीन बार नहीं, बल्कि सैकड़ों बार मेरी यही दशा हुई, पहले आनन्द एवं उल्लास और फिर जीवन की असम्भवनीयता की चेतना और निराशा।

मुझे याद है, बसन्त की शुरुआत के दिन थे। मैं वन में अकेला चुप-चाप बैठा उसकी ध्वनि सुन रहा था, जो कि मैं बराबर पिछले तीन वर्षों में सुन रहा था। मैं उसी का ध्यान लगाये हुए था। मैं पुनः ईश्वर की खोज में था।

मैंने झुंझलाकर अपने से कहा—'अच्छा, मान लो कोई ईश्वर नहीं है। कोई ऐसा नहीं है जो मेरी कल्पना के बाहर की वस्तु हो और मेरे सारे जीवन की तरह वास्तविक हो। उनका अस्तित्व नहीं है और कोई चमत्कार उसके अस्तित्व को प्रमाणित नहीं कर सकता; क्योंकि चमत्कार तो मेरी ही कल्पना के अन्तर्गत हैं, फिर वे बुद्धि-ग्राह्य भी नहीं हैं।

'लेकिन जिस ईश्वर की मैं खोज करता हूं उसके प्रति मेरा यह अन्तर्बोध, मेरी यह अन्तर्धारणा?' मैंने अपने से पूछा—'यह अन्तर्बोध कहां से आया?' बस यह सोचते ही, फिर मेरा अन्तर जीवन की आनंदमयी लहरों से भर गया। मेरे चतुर्दिक, जो-कुछ था सब जीवन से पूर्ण और सार्थक हो उठा; लेकिन मेरा यह आनंद अधिक समय तक स्थिर न रह सका। मेरा मन फिर अपनी उधेड़-बुन में लग गया।

मैंने अपने मन में कहा—'ईश्वर की धारणा तो ईश्वर नहीं है। धारणा तो वह चीज है जो मेरे ही अन्दर जन्म लेती है। ईश्वर की धारणा तो एक ऐसी चीज है जिसे हम अपने अंदर बना सकते या बनने से रोक सकते हैं। यह तो वह चीज नहीं है जिसकी खोज में मैं हूं। मैं तो उस चीज की खोज कर रहा हूं जिसके बिना जीवन संभव ही न हो। बस फिर मेरे बाहर-भीतर जो कुछ था मानो सब निर्जीव होने लगा और फिर मेरे मन में अपने को समाप्त कर देने की इच्छा पैदा हुई।

किन्तु तब मैंने अपनी दृष्टि अपने पर, और मेरे अन्दर जो कुछ चल रहा था, उस पर डाली, और जीवन की गति के बंद होने और फिर प्रफुल्लता और स्फूर्ति का प्रवाह जारी होने की उन क्रियाओं का स्मरण किया जो मेरे अन्दर सैकड़ों बार घटित हो चुकी थीं। मुझे याद आया कि मुझमें सिर्फ तभी तक जीवन की अनुभूति हुई जब-जब मैंने ईश्वर में विश्वास रखा। जो बात पहले थी, वही अब भी है; जीने के लिए मुझे सिर्फ ईश्वर के अस्तित्व के निश्चय की जरूरत है; और ज्यों ही मैं उसे भूलता हूं या उसमें अविश्वास करता हूं त्यों ही मेरी मृत्यु निश्चित है।

तब स्फूर्ति और मृत्यु के ये अनुभव क्या हैं? जब ईश्वर के अस्तित्व

में मेरे विश्वास का लोप हो जाता है तब मानो मेरी जीवन-शक्ति का अन्त हो जाता; तब मैं अपने को जीता हुआ नहीं अनुभव करता। अगर मेरे अन्दर उसे पाने की एक धुँधली-सी आशा न होती तो अब तक कभी का मैं अपनी हत्या कर चुका होता। अपने को सचमुच जीता हुआ तो मैं तभी तक अनुभव करता हूं जब तक मुझे 'उसकी' अनुभूति होती रहती है, और मुझे उसकी खोज रहती है। 'तुम और क्या खोजते हो?' मेरे अन्दर एक आवाज हुई। 'यही वह है। वह है जिसके बिना कोई जी नहीं सकता। ईश्वर को जानना और जीवित रहना एक ही बात है। ईश्वर ही जीवन है।'

'ईश्वर की खोज करते हुए जीओ, तब तुम्हारा जीवन ईश्वरहीन न होगा।' तब मेरे अन्दर और बाहर जो कुछ था वह सब प्रकाश से पूर्ण हो उठा और उस प्रकाश ने फिर मेरा परित्याग नहीं किया।

इस तरह मैं आत्म-हत्या से बच गया। यह मैं नहीं कह सकता कि कब और कैसे यह परिवर्तन हुआ। जैसे धीरे-धीरे मेरे अन्दर की जीवन-शक्ति नष्ट हो गई थी और मेरे लिए जीना असंभव हो उठा था, जीवन की गति बन्द हो गई थी और मुझे आत्म-हत्या करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसी तरह धीरे-धीरे मेरे अन्दर जीवन-शक्ति का प्रत्यागमन हुआ। और यह एक आश्चर्यजनक बात है कि जीवन की जो शक्ति मेरे अन्दर लौटी वह कोई नई नहीं थी, बल्कि वही पुरानी शक्ति थी जिसने मेरे जीवन के प्रारम्भिक दिनों में मेरा भार वहन किया था।

मैं पुनः उसी अवस्था में पहुंच गया जो बचपन और किशोरावस्था के प्रारंभिक दिनों में थी। पुनः मेरे हृदय में उस संकल्प-शक्ति[1] पर विश्वास उदय हुआ, जिसने मुझे उत्पन्न किया और जो मुझसे कुछ आशा रखती है। मैं पुनः इस विश्वास पर पहुंचा कि मेरे जीवन का प्रधान और एक-मात्र उद्देश्य पहले से अधिक अच्छा होना अर्थात् उस संकल्प-शक्ति के अनुसार

---

1. टॉलस्टॉय ने 'ईश्वरेच्छा' के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है।

जीवन व्यतीत करना है। मैं इस विश्वास पर पहुंचा कि मानव जाति ने अनादि काल से अपने पथ-प्रदर्शन के लिए जो कुछ खोज निकाला है उसमें ही मैं उस संकल्प-शक्ति की अभिव्यक्ति प्राप्त कर सकता हूं। मतलब यह है कि मैं ईश्वर में, नैतिक पूर्णता में और जीवन के प्रयोजन की परम्परा में विश्वास करने लगा। दोनों अवस्थाओं में अन्तर इतना ही था कि उस समय ये सब बातें मैंने अचेतनावस्था में स्वीकार कर ली थी; किन्तु अब मैं जान गया था कि इसके बिना मेरा जीवन ही असम्भव है।

मुझ पर कुछ इस तरह से बीती : मैं एक नाव में (मुझे याद नहीं है कब) चढ़ा दिया गया और किसी अज्ञात किनारे से धक्का देकर नदी की ओर बढ़ा दिया गया। मुझे दूसरे किनारे की ओर संकेत करके गंतव्य स्थान का एक धुंधला-सा आभास दे दिया गया और मेरे अनभ्यस्त हाथों में डाँड पकड़ा देने के बाद लोगों ने मुझे अकेले छोड़ दिया। मैंने अपनी शक्ति-भर खेकर नाव को आगे बढ़ाया; लेकिन ज्यों-ज्यों मैं मंझधार की ओर बढ़ा त्यों-त्यों प्रवाह तीव्र होता गया और वह बार-बार मेरे लक्ष्य से, दूर बहा ले जाने लगा। अपनी तरह मैंने और भी बहुत से लोगों को धारा में बहे जाते देखा। कुछ ऐसे नाविक थे जो बराबर खेते भी जा रहे थे; दूसरे कुछे ऐसे थे जिन्होंने अपनी पतवार डाल दी थी। वहां मैंने आदमियों से भरी हुई अनेक बड़ी-बड़ी नावें देखीं। कुछ धारा से संघर्ष करती थी; कुछ ने आत्म-समर्पण कर दिया था। जितना ही आगे मैं बढ़ता गया उतना ही मेरा ध्यान अपनी दिशा भूलकर धारा में बहे जाते हुए लोगों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया और उतना ही मैं अपना मार्ग और लक्ष्य, जिधर जाने का संकेत मुझे किया गया था, भूलता गया। ठीक मंझधार में, जहाजों और नावों की भीड़ में, जिन्हें धारा बहाये लिये जा रही थी, मैं अपनी दिशा बिल्कुल भूल गया, मैंने भी अपनी पतवार डाल दी थी। मेरे चारों तरफ हँसते और उल्लास मनाते हुए वे सब लोग थे जो धारा के साथ बहे जा रहे थे; वे सब लोग मुझे तथा परस्पर यह विश्वास दिला रहे थे कि और किसी दिशा में जाना सम्भव नहीं है। मैंने उनका विश्वास

कर लिया और उनके साथ बहने लगा। मैं बहुत दूर तक बहता हुआ चला गया—इतनी दूर तक कि मुझे नदी की तीव्र धाराओं के गिरने का जोरदार शब्द सुनाई पड़ने लगा; मैंने समझ लिया कि अब मेरा नाश निश्चित है। मैंने उस प्रपात में नावों को टुकड़े-टुकड़े होते देखा। मुझे अपनी स्मृति हो आई। एक अर्से से मैं समझने में असमर्थ था कि मेरे साथ क्या घटनाएं हुई हैं। मुझे अपने सामने सिवाय उस विनाश के और कुछ न दिखलाई देता था, जिसकी ओर मैं तेजी से बहता चला जा रहा था और जिसका भय मेरे प्राणों में समा गया था। मुझे कहीं रक्षा का कोई स्थान दिखाई न पड़ता था, और मैं नहीं जानता था कि मुझे क्या करना चाहिए, किन्तु जब मैंने पीछे की ओर दृष्टि फेरी तो यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गया कि असंख्य नौकाएं श्रमपूर्वक लगातार धारा को काटकर बढ़ रही है और तब मुझे किनारे का डांड़ों का और अपनी दिशा का स्मरण आया और मैंने पीछे लौटकर और धारा को चीरकर तट की ओर बढ़ने में अपनी शक्ति लगाई।

यह तट ईश्वर था; दिशा परम्परा थी; और तट की ओर बढ़ने तथा ईश्वर से मिलने की जो स्वतंत्रता मुझे दी गई थी; वही पतवार थी। इस प्रकार जीवन की शक्ति पुनः मेरे अन्दर जागृत हुई और पुनः मैंने जीना शुरू किया।

: 13 :

मैं अपने वर्ग में जीवन से दूर हट गया और मैंने स्वीकार किया कि हमारा जीवन कोई जीवन नहीं, बल्कि जीवन का एक स्वांग भर है, और वैभव एक संपन्नता की जिस स्थिति में हम रहते हैं और हमें जीवन को समझने की सम्भावना से वंचित कर देती है। और यह कि जीवन को समझने के लिए अपने जैसे परान्नजीवियों और जीवन पर भार बने लोगों के अपवाद तुल्य जीवन को नहीं, बल्कि सीधे-सादे श्रमिक लोगों के जीवन को समझना चाहिए—उन लोगों के जीवन को, जो जीवन का निर्माण करते हैं। वे जीवन का क्या अर्थ और प्रयोजन समझते हैं, इस पर हमें विचार

करना चाहिए। हमारे चारों ओर मेहनत-मजदूरी करने वाले रूसी लोग थे, इसलिए मैं उनकी ओर झुका और इस बात पर ध्यान देने लगा कि वे ही जीवन का क्या अर्थ और प्रयोजन समझते हैं। उनके अर्थ को शब्दों में कहना चाहें तो यों कह सकते हैं : इस संसार में प्रत्येक मनुष्य ईश्वर की इच्छा से आया है। ईश्वर ने मनुष्य को इस तरह बनाया है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा का विनाश व रक्षण कर सकता है। जीवन में मनुष्य का उद्देश्य अपनी आत्मा की रक्षा करना है और अपनी आत्मा की रक्षा करने के लिए उसे 'दिव्य' जीवन बिताना चाहिए। 'दिव्य' जीवन बिताने के लिए उसे सब सुखों व भोगों का त्याग करना चाहिए। स्वयं श्रम करना चाहिए, नम्र और दयावान बनना तथा कष्ट सहन करना चाहिए। जनता जीवन का यह अर्थ, धर्म और निष्ठा की उस संपूर्ण शिक्षा से ग्रहण करती है जो उसे पुरोहितों, पादरियों और जीवित परंपराओं से मिलती है। यह अर्थ मुझे स्पष्ट था और मेरे हृदय के निकट था; पर कोटि-कोटि असांप्रदायिक लोगों के लोकधर्म के इस अर्थ के साथ बहुत सी ऐसी बातें भी अविभेद्य रूप से मिल गई थीं जो मेरी समझ में नहीं आती थीं और जिनसे मुझे घृणा होती थी। सर्व-साधारण इनको अलग-अलग नहीं कर सकते; मैं भी नहीं कर सकता। और यद्यपि लोगों के विश्वास के साथ मिली बहुतेरी बातों पर मुझे आश्चर्य होता था। फिर भी मैंने उनकी सारी बातों को ग्रहण कर लिया; उप-सभाओं में शामिल होने लगा; सुबह-शाम प्रार्थना में सिर झुकाने लगा, उपवास भी किये। पहले मेरी बुद्धि ने किसी का विरोध नहीं किया। जो बातें पहले मुझे असंभव प्रतीत होती थीं, अब मेरे अन्दर किसी प्रकार का विरोध पैदा नहीं करती थीं।

श्रद्धा के साथ मेरा पहले का और अब का संबंध बिल्कुल जुदा था। पहले जीवन मुझे अर्थ से भरा प्रतीत होता था, और श्रद्धा प्रमेयों का स्वेच्छाचारपूर्ण कथन बिल्कुल अनावश्यक, अनुचित और जीवन से असंबद्ध मालूम पड़ता था। तब मैंने अपने मन में पूछा कि आखिर इन प्रमेयों का अर्थ क्या है और मुझको निश्चय हो गया कि उनका कुछ अर्थ नहीं है मैंने

उन्हें अस्वीकार कर दिया। पर अब इसके प्रतिकूल मैं दृढ़तापूर्वक जानता था कि (बिना श्रद्धा के) मेरे जीवन का कोई अर्थ नहीं है, न कोई अर्थ हो ही सकता है और श्रद्धा की वे सब शर्तें अनावश्यक नहीं रह गईं, बल्कि असंदिग्ध अनुभव के द्वारा मैं इस निर्णय पर पहुंचा कि श्रद्धा द्वारा उपस्थित किये जानेवाले ये प्रमेय ही जीवन को एक अर्थ प्रदान करते हैं—उसे सार्थक बनाते हैं। पहले मैं उन्हें अनावश्यक निरर्थक बकवाद की तरह देखता था; पर अब यद्यपि मैं उनको समझता नहीं था फिर भी इतना जानता था कि उनका कुछ अर्थ अवश्य है, और मैंने अपने से कहा कि मुझे उनको अवश्य समझना चाहिए।

मैंने अपने मन में कहा कि विवेकयुक्त संपूर्ण मानवता की भांति धर्म का ज्ञान भी किसी गोप्य स्रोत में प्रवाहित होता है। वह स्रोत ईश्वर है, जो मानव-शरीर एवं मानवी-विवेक दोनों का मूल है। जैसे मेरा शरीर मुझे ईश्वर से मिला है, वैसे ही मेरा विवेक और जीवन का मेरा ज्ञान भी मुझे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। इसलिए जीवन के उस ज्ञान के विकास की विभिन्न श्रेणियां झूठी नहीं हो सकतीं। जिन सब बातों में सर्व-साधारण सच्चा विश्वास है, वे अवश्य सत्य होगी; उनकी अभिव्यक्तियां भिन्न-भिन्न तरह से हुई हों; पर वे असत्य नहीं हो सकतीं। इसलिए अगर वे मेरे सामने असत्य के रूप में आती हैं तो इसका सिर्फ यही मतलब है कि मैं उनको समझ नहीं पाया हूं। मैंने अपने से यह भी कहा कि हरेक धर्म का तत्त्व जीवन को ऐसा अर्थ प्रदान करता है जिसे मृत्यु नष्ट नहीं कर सकती। धर्म द्वारा विलासिता में मरते हुए राजा, शक्ति से अधिक श्रम करने के कारण पीड़ित वृद्ध-दास, बुद्धि-हीन बच्चे, ज्ञानवान वृद्ध; मंद-बुद्धि बुढ़िया, तरूण-सुखी पत्नी, वासनाओं से संतत नौजवान, मतलब—हर तरह की शिक्षा और जीवन-मर्यादा के आदमियों के सवालों का जवाब दिया जा सके, इसके लिए यह समझ लेना जरूरी है कि यद्यपि जीवन के इस नित्य प्रश्न—कि 'मैं क्यों जीता हूं और मेरे जीवन से क्या नतीजा निकलेगा?'—का एक ही उत्तर है अर्थात् वह उत्तर तत्त्वतः एक

है; परंतु उसके अनेक रूप होने ही चाहिए; और यह जितना ही सच्चा और गहरा होगा, प्रयत्न-पूर्वक की जानेवाली उसकी अभिव्यक्ति में उतनी ही विचित्रताएं एवं विकृतियां दिखाई पड़ेंगी। ये विचित्रताएं और विकृतियां प्रत्येक व्यक्ति के शिक्षण और मर्यादा के अनुकूल होंगी। परन्तु इस तर्क ने यद्यपि धर्म के कर्म-कांड पक्ष की अनेक असंगतियों को मेरी आंखों के सामने उचित सिद्ध करके पेश किया, फिर भी वह इतना काफी नहीं था कि जीवन के इस महान मामले—धर्म—में ऐसी बातें करने की आज्ञा देता, जो मुझे आपत्तिजनक प्रतीत होती थीं। अपने सम्पूर्ण अन्त:करण के साथ मैं ऐसी स्थिति में पहुंचने की कामना करता था, जिसमें सर्व-साधारण के साथ हिल-मिल सकूं और उनके धर्म के कर्म-कांड पक्ष का पालन एवं आचरण कर सकूँ; लेकिन मैं वैसा नहीं कर सका। मुझे अनुभव होता था कि अगर मैं ऐसा करता हूं तो मानो अपने से ही झूठ बोलता हूं और जो कुछ मेरे निकट पवित्र है, उसका उपहास करता हूं। जब मैं इस उधेड़-बुन में पड़ा हुआ था तब नूतन रूसी धार्मिक लेखकों ने मुझे संकट से बचाया।

इन धर्मवेत्ताओं ने व्याख्या की, वह यों थी कि हमारे धर्म का मुख्य सिद्धान्त चर्च (ईसाई मन्दिर-संस्था) की निर्भ्रान्तता का सिद्धान्त है। यदि हम इस सिद्धान्त को मान लेते तो इससे अनिवार्य रूप से निष्कर्ष निकलता है कि चर्च जो कुछ मानता है वह सब सत्य है। बस, प्रेम-द्वारा ग्रथित सच्चे आस्तिकों और फलत: सच्चे ज्ञानियों के एक समुदाय के रूप में चर्च को मैंने अपने विश्वास का आधार बना लिया। मैंने अपने से कहा कि व्यक्ति को ईश्वरीय सत्य प्राप्त नहीं हो सकता; वह सत्य केवल प्रेम द्वारा जुड़े हुए लोगों को सम्पूर्ण समुदाय के सामने ही प्रकट हो सकता है। सत्य के पाने के लिए सबसे जुदा नहीं होना चाहिए और सबसे जुदा न होने के लिए यह जरूरी है कि मनुष्य प्यार करे और उन सब बातों को सहन करे, जिनको वह नहीं मानता है।

सत्य प्रेम के सामने अपने को प्रकट करता है और अगर तुम चर्च या

ईसाई धर्म-संस्था के आचारों के सामने सिर नहीं झुकाते तो तुम प्रेम का उल्लंघन या तिरस्कार करते हो और प्रेम का उल्लंघन करने के कारण तुम अपने को सत्य पहचानने और पाने की संभावना से वंचित करते हो। इस तर्क में जो हेत्वाभास या वाक्छल था, उसे उस समय मैं देख न सका। मैं नहीं समझ सका कि प्रेम के संग्रथन से यद्यपि परमोच्च प्रेम की प्राप्ति हो सकती है; परन्तु वह ईश्वरीय सत्य को देने में असमर्थ है। मैं यह भी नहीं देख सका कि प्रेम सत्य की किसी खास अभिव्यक्ति को भी संग्रथन की आवश्यक शर्त के रूप में नहीं रख सकता। मेरे तर्क में जो दोष थे, उन्हें उस समय मैंने नहीं देखा, इसलिए कट्टर धर्म-संस्था के सम्पूर्ण आचारों को मानकर मैं उन्हें कार्यान्वित करने लगा—यद्यपि उसमें से अधिकांश का अर्थ मेरी समझ में न आया था। उस समय मैंने अपने सम्पूर्ण अन्तःकरण के साथ सब तरह के तर्कों और विरोधों से बचने की कोशिश की और चर्च के जो वक्तव्य मेरे सामने आये, उन्हें जहां तक हो सका, उचित समझने और सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

ईसाई-धर्म-संस्था (चर्च) के आधारों और विधियों का पालन करते हुए मैंने अपनी बुद्धि का शमन कर दिया और उन परम्पराओं के आगे सिर झुका दिया, जो सम्पूर्ण मानव जाति में पाई जाती है। मैंने अपने को पूर्वजों, पिता-माता और दादा-दादी के साथ, जिनसे मैं प्रेम करता था, मिला दिया। उन्होंने तथा मेरे पूर्वजों ने इसी प्रकार चर्च में विश्वास रखते हुए जीवन बिताया था और उन्होंने ही मुझे उत्पन्न किया था। मैंने लाखों-करोड़ों सामान्य लोगों के साथ अपने को मिला लिया, जिनकी मैं इज्जत करता था। फिर इन आचारों के पालन में कोई 'बुराई' तो थी नहीं। (मैं अपनी वासनाओं के प्रति आसक्ति को ही 'बुराई' मानता था।) गिर्जे की उपासनाओं में शामिल होने के लिए जब मैं सुबह जल्दी उठता था तो समझता था कि मैं कोई अच्छा ही काम कर रहा हूं, क्योंकि अपने पूर्वजों और समकालिकों के साथ ऐक्य स्थापित करने और जीवन का अर्थ प्राप्त करने के लिए मैं अपने मानसिक अहंकार का त्याग करते हुए अपने

शारीरिक सुखों को छोड़ रहा हूं। इसी तरह घुटने मोड़कर प्रार्थना कहने, व्रत-उपवास करने, ईसा के स्मरणार्थ भोजन में बैठने (कम्यूनियन), वगैरह में भी अच्छाई देखता था। चाहे ये त्याग कितने ही नगण्य हों, मैं उनको कुछ अच्छे के लिए ही करता था। मैं व्रत-उपवास रखता, घर पर तथा गिर्जे में नियत समय पर प्रार्थना करता एवं अन्य आचारों का पालन करता था। गिर्जे में जब धर्मोपदेश होता तो मैं उसके एक-एक शब्द पर ध्यान देता और जहां तक हो सकता, उसमें अर्थ ढूंढ़ने की, कोशिश करता था। धर्मोपदेश में मेरे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण शब्द ये होते थे: 'हम एक-दूसरे को एक समान प्यार करें।' आगे के इन शब्दों को—'हम परम पिता, उसके पुत्र और 'होली घोस्ट'[1] की एकता में विश्वास रखते हैं', मैं दरगुजर कर जाता था; क्योंकि उन्हें समझ न सकता था।

: 14 :

जीवित रहने के लिए श्रद्धा रखना उस समय मेरे वास्ते इतना जरूरी हो गया था कि मैंने अचेतन रीति से धर्म-शास्त्र के पारस्परिक विरोधों और अस्पष्टताओं को अपने से छिपाया। लेकिन आचारों और विधियों में इस तरह अर्थ देखने की भी एक सीमा थी। प्रार्थना का एक बड़ा हिस्सा सम्राट् या जार तथा उसके संबंधियों की हित-कामना से भरा हुआ था। मैंने अपने मन को समझाने की कोशिश की कि चूंकि उनके सामने प्रलोभन अधिक हैं, इसलिए उनके लिए प्रभु से प्रार्थना करना उचित ही है। इसी तरह अपने शत्रुओं और बुराइयों को पांव तले दबा सकने की प्रार्थना के बारे में मैंने अपने मन को यों समझाने की कोशिश की कि यहां 'शत्रु' का अर्थ 'पाप' है। किन्तु इस तरह की प्रार्थनाओं में उपासना भरी होती थी। पूजा व उपासना का प्रायः दो-तिहाई हिस्सा इसी प्रकार की बातों से भरा

---

1. 'होली घोस्ट' = ईसाई त्रिमूर्ति का तृतीय पुरुष : जीवात्मा-परम-पिता एवं पुत्र (ईसा) से उद्भूत।

होता था. जिनका या तो कोई अर्थ ही मेरी समझ में नहीं आता था अथवा यदि मैं खींच-तानकर उनका कोई अर्थ निकालने की कोशिश करता तो मुझे अनुभव होता था कि मैं झूठ बोल रहा हूं और इस प्रकार ईश्वर के साथ मेरा जो संबंध है उसे नष्ट कर रहा हूं और श्रद्धा की संपूर्ण संभावनाओं से अपने को वंचित कर रहा हूं।

कुछ ऐसा ही अनुभव मुझे मुख्य-रूप त्यौहारों के बारे में भी होता था। 'सैबेथ'[1] का स्मरण करना यानी ईश्वर के ध्यान-पूजा में एक दिन बिताना, इसे तो मैं समझ सकता था। लेकिन छुट्टी का मुख्य दिन प्रभु ईसा के सूली पर पुनः जीवित हो उठने के स्मारक-रूप में मनाया जाता था और इस पुनर्जीवन की सच्चाई की मैं किसी प्रकार कल्पना या अनुभूति न कर पाता था। रविवार की साप्ताहिक छुट्टी को भी 'पुनर्जीवन दिवस' का नाम दिया गया था। क्रिसमस या बड़े दिन को छोड़कर शेष ग्यारह बड़े त्यौहार चमत्कारों के स्मारक थे। इन दिवसों को मनाते समय मुझे अनुभव होता था कि उन्हीं बातों को महत्त्व दिया जा रहा है जिनका मेरे निकट कोई महत्त्व न था। मैं मन को समझाने और खींच-तानकर अर्थ निकालने की कोशिश करता या अपने को प्रलुब्ध करनेवाली इन बातों को न देखने के लिए उधर से आंख मूंद लेता था।

इनमें से ज्यादातर विचार सामान्य और महत्त्वपूर्ण धार्मिक विधियों को करते समय मेरे दिल में पैदा हुए थे। इनमें बपतिस्मा और 'कम्यूनियन' (ईसा के स्मरणार्थ भोज : प्रसाद जिसे ईसाई ईसा का रक्त-मांस समझकर ग्रहण करते हैं) की प्रथाएं मुख्य थीं। इनमें कोई ऐसी बात न थी जो दिमाग में न आ सकने वाली हो; सब बातें साफ और समझ में आने लायक थीं और ऐसी बातें थीं, जो मुझे प्रलोभन की तरफ ले जाती मालूम पड़ती थीं। मैं बड़ी खींचातानी में पड़ गया कि मुझे अपने प्रति झूठ बोलना चाहिए या उन्हें अस्वीकार कर देना चाहिए।

---

1. रविववार का दिन, जब ईसामसीह सूली पर पुनर्जीवित हो उठे थे। रूस में रविवार को पुनर्जीविन (रीजरेक्शन) दिवस कहा जाता है।

बहुत वर्षों के बाद जब पहली बार मुझे 'यूकारिस्ट' (प्रभु ईसा के भोज का प्रसाद ईसा के रक्त-मांस के रूप में) मिला तो मेरे मन की जो हालत हुई उसे मैं भूल न सकूंगा। पूजा, पापों की स्वीकृति और प्रार्थनाएं सब समझने में आ सकनेवाली चीजें थीं और उनसे मेरे मन में आह्लाद हुआ कि जीवन का अर्थ मेरे सामने खुल रहा है। 'कम्यूनियन' को तो मैंने एक ऐसा कृत्य समझ लिया, जो ईसा के स्मरणार्थ किया जाता था और ईसा की शिक्षाओं को पूर्णतः ग्रहण करने एवं पाप से-मुक्त होने का निर्देश करता हो। यदि इस व्याख्या में कुछ बनावट, कुछ कृत्रिमता थी तो मुझे उस वक्त उसका कुछ ध्यान न था। उस सीधे-सादे देहाती पादरी के सामने अपनी आत्मा की संपूर्ण गंदगी निकाल देने और अपने पापों को स्वीकार करके अपने को दीन-हीन प्रदर्शित करने में मुझे इतनी प्रसन्नता हुई थी; मैं गिर्जे के लिए प्रार्थनाएं लिखनेवाले अतीत काल के धर्म-पिताओं के साथ तनमतया प्राप्त करके इतना खुश था; पूर्वकाल और इस समय के आस्तिकों का सान्निध्य प्राप्त करके मुझे इतनी खुशी हासिल हुई थी कि अपनी व्याख्या व सफाई की कृत्रिमता की ओर ध्यान देने का मुझे मौका ही न मिला; लेकिन जब मैं वेदी के द्वार के निकट पहुंचा और पुरोहित ने मुझसे कहलवाया कि 'मुझे विश्वास है कि जो कुछ मैं निगलने जा रहा हूं वह सचमुच (ईसा का)' रक्त और मांस है, तो मुझे अपने दिल में दर्द का अनुभव हुआ। इसमें केवल असत्य की झलक ही नहीं थी; यह एक ऐसे आदमी द्वारा की जाने वाली निर्दय मांग थी, जिसने कभी जाना ही नहीं कि श्रद्धा क्या चीज है।

आज मैं यह कह रहा हूं कि यह एक निर्दय मांग थी; लेकिन उस वक्त मैं ऐसा नहीं समझता था। उस वक्त तो मुझे सिर्फ एक गहरी वेदना का अनुभव था; वह वेदना अवर्णनीय थी। युवावस्था की मेरी वह स्थिति अब न थी जिसमें मैं समझता था कि जीवन में सब-कुछ स्पष्ट है। यह ठीक है कि मैंने श्रद्धा को स्वीकार कर लिया; क्योंकि श्रद्धा को छोड़कर दुनिया में विनाश के अतिरिक्त मैंने और कुछ न पाया था। इसलिए इस

धर्मनिष्ठा का त्याग करना असम्भव था और इसलिए मैं झुक गया—मैंने माथा टेक दिया। मुझे अपने अंत:करण में एक ऐमी अनुभूति प्राप्त हुई जो इस स्थिति को सहन करने योग्य बनाने में मुझे सहायता देती रही। यह आत्म दैन्य और नम्रता की अनुभूति थी। मैंने अपने को दीन-हीन बना लिया और पाखंड व नास्तिकता की अनुभूति के बगैर उस रक्त-मांस को निगल गया ऐसा करते वक्त मेरे मन में यही इच्छा थी कि मुझे विश्वास रखना चाहिए; लेकिन चोट पड़ चुकी थी और मैं फिर दूसरी बार वहां न जा सका।

फिर भी मैं चर्च की विधियों का पालन करता रहा और विश्वास करता रहा कि जिन धर्म-सिद्धान्तों का मैं पालन करता रहा हूं, उनमें सत्य निहित है। इसी वक्त मेरे साथ कुछ ऐसी बातें हुईं जिन्हें आज तो मैं समझता हूं; पँर जो उस समय आश्चर्यजनक मालूम पड़ती थीं।

एक दिन मैं एक अशिक्षित की बातें सुन रहा था। वह ईश्वर, धर्म, जीव और मुक्ति के बारे में कह रहा था। इसी वक्त धर्मनिष्ठा का रहस्य अपने-आप मेरे सामने प्रकट हुआ। मैं जन-साधारण के निकट और भी खिंच गया; जीवन और धर्म-विश्वास के विषय में उनकी सम्मतियां सुनने लगा और दिन-दिन सत्य को अधिकाधिक समझने लगा। यही बात उस वक्त भी हुई जब मैं संतों की जीवन-गाथाएं पढ़ रहा था। ये मेरी बड़ी प्रिय पुस्तकें बन गई थीं। इनमें चमत्कार की जो गाथाएं थीं उन्हें मैंने यह समझकर अलग कर दिया कि वे विचारों को चित्रित करनेवाली कथाएं हैं। बाकी जो बचा, उसके अध्ययन ने मेरे सामने जीवन का अर्थ प्रकाशित कर दिया। इन पुस्तकों में मकैरियस महान की जीवनी थी; बुद्ध की कथा थी; संत जॉन चीसास्तम के उपदेश थे और कुएं में पड़े यात्री, सोना प्राप्त करने वाले संन्यासी तथा पीटर भटियारे की गाथाएं थीं। उनमें शहीदों की कथाएं थीं और सबमें यह घोषणा की थी कि मृत्यु के साथ जीवन का अंत नहीं होता; ऐसे लोगों की भी कथाएं थीं, जो अशिक्षित और मूर्ख थे

और चर्च की शिक्षाओं के विषय में कुछ भी नहीं जानते थे, लेकिन फिर भी वे त्राण पा गये।

लेकिन ज्यों ही मैं शिक्षित और विद्वान आस्तिकों से मिला, अथवा उनकी पुस्तकें पढ़ीं, त्यों ही अपने विषय में सन्देह, असंतोष और निराशापूर्ण संघर्ष विषाद से मेरा मन भर गया, और मैंने अनुभव किया कि मैं इन लोगों की वाणी के अर्थ में जितना ही घुसता हूं उतना ही मैं सत्य से दूर जाता हूं और अथाह खाई की ओर बढ़ता हूं।

: 15 :

न जाने कितनी बार मैंने किसानों की निरक्षता और पांडित्य-हीनता पर उनसे ईर्ष्या की होगी! धर्म के लक्ष्य-संबंधी वक्तव्य मेरे लिए फिजूल और मिथ्या थे; परन्तु उनको उनमें कोई झुठाई नहीं प्रतीत होती थी। वे उन्हें स्वीकार न कर सकते और उस सत्य में विश्वास करते थे, जिसमें विश्वास रखने का मेरा भी दावा था। पर एक मैं अभागा और दुखिया ऐसा था, जिसको साफ दिखाई दे रहा था कि इस सत्य के साथ असत्य के बड़े बारीक तार एक-दूसरे से गुथे हुए हैं और मैं इस रूप में सत्य को स्वीकार नहीं कर सकता।

लगभग तीन साल तक मेरी यह अवस्था रही। शुरू-शुरू में जब मैं ईसाई-धर्म का प्रारंभिक साधक व विद्यार्थी था, सत्य से मेरा क्षीण संपर्क था और जो कुछ मुझे साफ मालूम पड़ता था उसका आभास मात्र मैं पा सका था, तब तक यह आतंरिक संघर्ष उतना प्रबल न था। क्योंकि जब मैं किसी बात को न समझता तो कह देता—"यह मेरा दोष है, मैं पापी हूं।" लेकिन ज्यों-ज्यों मैं सत्य को अपनाता गया और वे मेरे जीवन का आधार बनते गये, त्यों-त्यों यह संघर्ष अधिकाधिक दु:खदायी और पीड़ाकारी होता गया। इसके साथ ही समझने में अपनी असमर्थता के कारण जो कुछ मैं नहीं समझ सकता, उसके और जो कुछ बिना झूठ बोले या अपने को धोखा दिये समझा ही नहीं जा सकता, उसकी बीच की रेखाएं गहरी होती गईं।

इन शंकाओं और पीड़ाओं के बावजूद मैं सनातन ईसाई संपद्राय को ग्रहण किये रहा। लेकिन जीवन के ऐसे सवाल उठते रहे जिनका निर्णय करना जरूरी था। कट्टर सनातनी चर्च इन पर जो निर्णय देता था वह तो धर्म-निष्ठा के उन मूलाधारों के ही खिलाफ था जिन पर मेरा जीवन खड़ा था। इस कारण विवश होकर मुझे स्वीकार करना पड़ा कि कट्टर सतातनी संप्रदाय में रहकर सत्य की प्राप्ति करना असम्भव है। इन सवालों में एक खास सवाल इस कट्टर ईसाई संप्रदायका अन्य ईसाई संप्रदायों के प्रति प्रकट होनेवाला दृष्टिकोण और व्यवहार भी था। चूंकि धर्म में मेरी दिलचस्पी थी, इसलिए मैं संप्रदाय के अनुयायियों के संपर्क में आता रहता था। इसमें कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट, 'पुराने विश्वासी' (ओल्ड विलीवर्स), सुधारवादी मोलोकस (जो कर्मकांड की अनेक विधियों के विरोधी थे)—मतलब सभी तरह के लोग थे। इसमें मुझे ऊंचे चरित्र के बहुतेरे ऐसे आदमी मिले जो सचमुच धर्मात्मा थे। मैं उनके साथ भाईचारा स्थापित करना चाहता था—उनको अपने बंधुरूप में ग्रहण करना चाहता था। पर कट्‌टर सनातनी चर्च में स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। जिस शिक्षा ने सबको एक धर्म-निष्ठा और प्रेम-बंधन में बांधने का दावा किया था, उसी शिक्षा के सर्वोत्तम प्रतिनिधियों ने मुझे बताया कि ये सारे आदमी असत्याचारी हैं, असत्य के बीच रह रहे हैं; उनके जीवन में जो शक्ति दिखाई देती है, वह शैतान का प्रलोभन मात्र है और जो कुछ हमारे पास है बस वही सत्य है। मैंने यह भी देखा कि जो लोग हर बात में उनसे सहमत नहीं हैं या उनकी 'हां-में-हां' नहीं कर सकते वे सब इन कट्‌टर सनातनियों-द्वारा नास्तिक और पतित समझे जाते हैं। मुझे यह भी दिखाई पड़ा कि जो लोग उनके स्वीकृत बाह्य चिह्नों और प्रतीकों के द्वारा अपनी धर्म-निष्ठा नहीं प्रकट करते उनके प्रति ये लोग विरोध-भाव रखते हैं और यह स्वाभाविक ही है। पहला कारण तो उनकी यह मान्यता है कि तुम असत्य पर हो और केवल मैं ही सत्य पर हूं और इससे निष्ठुर बात एक मनुष्य दूसरे से कह नहीं सकता। दूसरा कारण यह है कि जो आदमी

अपने बच्चों और भाइयों को प्यारा करता हो, उन लोगों के प्रति विरोध एवं शत्रुता का भाव रखे बिना नहीं रह सकता, जो बच्चों और भाइयों को झूठी धर्म-निष्ठा की ओर ले जाना चाहते हों। फिर पौराणिक ज्ञान जितना ही अधिक बढ़ता है, यह विरोध भाव भी उतना ही अधिक बढ़ता जाता है। तब मेरे जैसे आदमी के लिए जो प्रेम द्वारा ऐक्य एवं मिलन में सत्य की स्थिति मानता है, यह बात बिल्कुल साफ हो गई कि धर्म-विद्या ठीक उसी चीज का विनाश कर रही है जिसका निर्माण उसे करना चाहिए था।

जब हम देखते हैं कि प्रत्येक सम्प्रदाय दूसरे के प्रति घृणा का भाव रखता है, केवल अपने को ही सत्य का अधिकारी मानकर सन्तुष्ट है तो आश्चर्य होता है कि ये लोग इतना भी नहीं देख सकते कि अगर दोनों के दावे एक-दूसरे के विरोधी हैं तो उनमें से किसी में भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता, और धर्म-निष्ठा में पूर्ण सत्य होना चाहिए। तब मनुष्य उनको यों भुलावा देने की चेष्टा करता है कि कोई और बात भी होगी; इसका कुछ और मतलब होगा। मैंने भी यही समझा कि इसका कुछ और मतलब होगा और उस मतलब को पाने एवं समझने की कोशिश की। इस विषय पर जो-कुछ भी मुझे पढ़ने को मिला, मैंने पढ़ा और जिनसे भी सलाह मशविरा कर सकता था, किया। किसी ने मुझे उसकी कोई व्याख्या नहीं सुझाई, सिवाय उस व्याख्या के जिसे मानने के कारण 'क' अपने को ही दुनिया में सर्वश्रेष्ठ मानता है और 'ख' अपने को। हर संप्रदाय ने अपने सर्वोत्तम प्रतिनिधियों द्वारा मुझे कहा कि हमारा विश्वास है कि सिर्फ हमीं को सत्य प्राप्त है और दूसरे सब गलत रास्ते पर हैं और हम उनके लिए सिर्फ प्रार्थना कर सकते हैं। मैं पुरोहितों, पादरियों, धर्माध्यक्षों और विद्यावयोद्ध पंडितों के पास गया; लेकिन किसी ने मुझे इसका मतलब नहीं बताया— सिवाय एक आदमी के जिसने इसकी पूरी व्याख्या मेरे सामने रखी और कुछ इस तरह रखी कि फिर आगे किसी से पूछने का मुझे साहस ही नहीं हुआ। मैंने कहा कि धर्म-निष्ठा की ओर आकर्षित होने वाला प्रत्येक नास्तिक (और हमारी सारी तरुण पीढ़ी कुछ इसी तरह की है) पहले यह

सवाल करता है कि लूथर संप्रदाय में या कैथोलिक संप्रदाय में सत्य क्यों नहीं, और कट्टर सनातनी संप्रदाय में सारा सत्य क्यों है? आधुनिक युवक शिक्षित होने के कारण, किसानों की भाँति, इस बात से अपरिचित नहीं है कि प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक संप्रदाय भी इसी प्रकार जोर के साथ कहते हैं कि उनका ही धर्म-विश्वास एकमात्र सच्चा है। ऐतिहासिक प्रमाणों को प्रत्येक धर्म व संप्रदाय इस तरह तोड़-मरोड़कर पेश करता है कि वे इस संबंध में कुछ सिद्ध करने के लिए काफी नहीं हैं। मैंने कहा कि क्या यह मुमकिन नहीं है कि धर्म-शिक्षाओं को इससे ऊंचे और श्रेष्ठ ढंग पर ग्रहण किया जाय कि उसको ऊंचाई से देखने पर ये सब विभेद और मतभेद दूर हो जायं, जैसा कि सच्चे आस्तिकों के साथ होता भी है? क्या हम जिस मार्ग पर चल रहे हैं, सदा उसके आगे नहीं बढ़ सकते? क्या हम दूसरे संप्रदायवालों से यह नहीं कह सकते कि फलां-फलां तात्त्विक बातों में तो हमारे मत मिलते-जुलते हैं, तफसील की बातों में भले न मिलें। तात्त्विक और जरूरी बातों को गैर-जरूरी बातों पर श्रेष्ठता देकर हम एकता का अनुभव कर सकते हैं।

उस एक आदमी ने, जिसका जिक्र मैं ऊपर कर चुका हूं, मेरे विचारों का समर्थन किया; पर मुझसे कहा कि अगर इस तरह की छूट दी जाती है तो धर्माधिकारियों पर यह कलंक लगता है कि उन्होंने हमारे पूर्वजों के साथ विश्वासघात किया, इससे धर्म-भेद फैलता है और धर्माधिकारियों का काम तो यूनानी-रूसी कट्टर सनातनी चर्च की पवित्रता की रक्षा करना है जिसे हमने पूर्वजों से हासिल किया है।

बस सारी बातें मेरी समझ में आ गईं। मैं एक धर्म-निष्ठा की खोज कर रहा हूं, जो जीवन का बल है और वे लोग कुछ मानवीय उत्तरदायित्वों को लोगों की निगाह में सर्वोत्तम ढंग से निभाने का प्रयत्न कर रहे हैं और इन मानवीय मामलों की पूर्ति वे एक मानवीय ढंग से करते हैं। चाहे वे अपनी गलती करने वाले भाइयों पर करुणा रखने की कितनी ही बात करें और सर्वशक्तिमान ईश्वर के सिंहासन से उनके लिए कितनी ही प्रार्थनाएं

करें; परन्तु मानवीय स्वार्थों की पूर्ति के लिए हिंसा आवश्यक हो उठती है, सर्वदा उसका प्रयोग हुआ है, होता है और होता रहेगा। अगर दो धर्मों में से प्रत्येक सिर्फ अपने को ही सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा मानता है तो फिर लोग दूसरों को सच्चाई की ओर खींचने के लिए अपने धर्म-सिद्धांतों का प्रचार और उपदेश करते ही रहेंगे। अगर उनके सच्चे चर्च के अनुभवहीन बच्चों या अनुयायियों को गलत शिक्षा दी जाती है तो फिर चर्च के पास इसके सिवाय क्या चारा रह जाता है कि वह ऐसी किताबें जला दे और जो आदमी उसके बच्चों को गुमराह कर रहा है, उसे हटा दे। ऐसे संप्रदायवादी के साथ क्या किया जाय, जो सनातनी चर्च की राय में भ्रमात्मक धर्म-सिद्धांतों की आग में जल रहा है और जो जीवन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण मामले, यानी धर्म की निष्ठा में चर्च के बच्चों को गुमराह कर रहा है? ऐसे आदमी के साथ उसे भेजने अथवा उसका सिर काट लेने के सिवाय और कोई व्यवहार किया जा सकता है? जार एलेक्सिस माइखेलोंविच के समय में लोगों को जला दिया जाता था यानी उन पर उस वक्त के सबसे कड़े दंड-विधान का प्रयोग किया जाता था, और आज हमारे वक्त में भी इस समय की सबसे कड़ी दंड-विधि यानी एकांत कारावास[1] का प्रयोग किया जाता है।

तब मैंने उन बातों पर ध्यान दिया, जो धर्म के नाम पर की जाती हैं और भय एवं संताप से भर गया, और मैंने कट्टर सनातन ईसाई संप्रदाय को करीब-करीब बिल्कुल छोड़ दिया।

चर्च का दूसरा संबंध युद्ध और फांसी को लेकर जीवन के एक सवाल से था।

उस वक्त रूस लड़ रहा था और रूसी लोग ईसाई प्रेम के नाम पर, अपने मानव-बंधुओं को मारना शुरू कर चुके थे। इसके विषय में न सोचना असंभव था और इस बात की तरफ से आंख मूंद लेना भी असंभव

---

1. जब यह लिखा गया था तब खयाल किया जाता था कि रूस से फांसी की प्रथा उठा दी गई है।

था कि हत्या एक ऐसा पाप है जो हर धर्म के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है। इतने पर हमारी फौजों की सफलता के लिए गिर्जे में प्रार्थनाएं की जाती थीं और धर्मोपदेशक हत्या करने को धर्म-निष्ठा से ही पैदा होनेवाला एक काम मानते थे। फिर युद्ध-काल की इन हत्याओं के अलावा, युद्ध के बाद के झगड़ों-टंटों में भी मैंने देखा कि चर्च के अधिकारियों, शिक्षकों और संन्यासियों ने गलती करनेवाले असहाय युवकों की हत्या का समर्थन किया। मैंने ईसाई धर्म मानने का दावा करनेवाले आदमियों के सब कत्यों पर ध्यान दिया और मेरा दिल दहल गया।

: 16 :

बस मेरा संदेह दूर हो गया और मुझे पूरी तरह विश्वास हो गया कि जिस धर्म को मैंने अंगीकार कर रखा है, उसमें सब सत्य-ही-सत्य नहीं है। शायद ऐसी हालत में पहले मैं कहता कि वह सबका सब झूठा है; लेकिन अब मैं ऐसा भी नहीं कह सकता था। सारी जनता सत्य का कुछ-न-कुछ ज्ञान रखती है; क्योंकि बिना उसके वह जी नहीं सकती। फिर वह ज्ञान मेरे लिए भी प्राप्त है, क्योंकि मैंने उसकी अनुभूति की है और उसके सहारे जिंदगी के दिन भी बिताये हैं। यह सब था; पर अब मुझे कोई संदेह नहीं रह गया था कि सत्य के साथ इसमें असत्य भी है। जो बातें पहले मुझे घृणाजनक प्रतीत होती थीं वे सब स्पष्ट रूप में मेरे सामने आईं। यद्यपि मैंने देखा कि जिन झूठी बातों में मुझे घृणा होती है, उनका किसानों में चर्च व धर्म-संस्था के प्रतिनिधियों की अपेक्षा कम ही मिश्रण है। पर यह तो सब भी साफ हो गया कि जनता के धर्म-विश्वास में सत्य के साथ असत्य भी मिला हुआ है।

पर सवाल उठता है कि सत्य कहां से आया और असत्य कहां से आया? सत्य और असत्य दोनों पवित्र कही जानेवाली परंपरा और धर्म-ग्रंथों में मौजूद थे। सत्य और असत्य दोनों चर्च (ईसाई-धर्म-संस्था) द्वारा लोगों को दिये गए हैं।

और पसंदगी से या ना-पसंदगी से मुझे इन ग्रंथों का और इन परंपराओं का अध्ययन और अन्वेषण करना पड़ा—उन्हीं ग्रंथों और परंपराओं का, जिनका अन्वेषण करने में अभी तक मैं इतना हिचकिचाता और डरता था।

मैं उसी धर्म-विद्या की प्रतीक्षा करने लगा जिसे एक दिन अनावश्यक कहकर मैंने तिरस्कारपूर्वक अस्वीकृत कर दिया था। पहले जब मैं चारों तरफ से जीवन की ऐसी अभिव्यक्तियों से घिरा था, जो मुझे स्पष्ट और विवेकपूर्ण प्रतीत होती थी तब वह मुझे यह (धर्म विद्या) अनावश्यक मूर्खताओं व असंगतियों एक मालिका-सी प्रतीत होती थी; अब मैं केवल उन्हीं चीजों को फेंककर सुखी हो सकता था जो मेरे दिमाग में न घुसती थीं। इसी शिक्षा पर धार्मिक सिद्धांत का आधार है या कम-से-कम इसके साथ मैंने जीवन के अर्थ एवं प्रयोजन का जो एकमात्र ज्ञान प्राप्त किया है, उसका अभेद्य संबंध है। मेरे दृढ़ और पुराने मन को यह बात चाहे कितनी ही निरर्थक प्रतीत हो; पर यही मुक्ति की एकमात्र आशा थी। इसे समझने के लिए बड़े ध्यान और सावधानी के साथ इसकी परीक्षा करने की जरूरत थी—उस तरह का समझना नहीं जैसा मैं विज्ञान की धारणाओं को समझता हूं; मैं उसकी खोज में नहीं हूं और धर्म-निष्ठा के ज्ञान की विशेषताओं एवं विविधताओं को देखते हुए मैं उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर भी नहीं सकता। मैं हर चीज की व्याख्या नहीं चाहता। मैं जानता हूं कि सब वस्तुओं के प्रारंभ की भांति सब वस्तुओं की व्याख्या भी असीम में निहित है। लेकिन मैं इसे ऐसे ढंग से समझना चाहता हूं जिससे जो कुछ अनिवार्यत: अबोध्य है, उस तक पहुंच सकूं। जो कुछ भी अबोध्य है उसे मानना चाहता हूं इसलिए नहीं कि मेरे विवेक की मांग गलत है (वह बिल्कुल ठीक है और उससे अलग होकर तो मैं कुछ भी समझ नहीं सकता) बल्कि इसलिए कि मैं अपनी बुद्धि की सीमाओं को जानता हूं। मैं जानता हूं कि मेरी बुद्धि एक सीमा तक ही जा सकती है। मैं इस रीति से समझना चाहता हूं कि जितनी भी बातें अबोध्य हैं वे सब

स्वयं अपने को अनिवार्यतः अबोध्य रूप में मेरे सामने पेश करें—ऐसी चीजों के रूप में नहीं, जिनमें विश्वास करने के लिए मैं विवशतापूर्वक बाध्य हूं।

धर्मशिक्षा में सत्य है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है; पर यह भी निश्चित है कि उसमें असत्य है और मुझे जानना चाहिए कि कौन-सी बात सत्य है, कौन-सी असत्य; मुझे सत्य और असत्य को अलग-अलग करना चाहिए। इसी काम में अपने को लगा रहा हूं। मुझे धर्म-शिक्षा में क्या असत्य मिला, क्या सत्य मिला और किन नतीजों पर मैं पहुंचा, इसका जिक्र मैं आगे करूंगा, जो अगर कुछ महत्त्व का हुआ और किसी ने चाहा तो शायद आगे कहीं प्रकाशित होगा।

सन् 1879 ई०

: 17 :

ऊपर के अध्याय मैंने लगभग तीन साल पहले लिखे थे जो छापे जायेंगे।

थोड़े दिन पहले की बात है कि इनको फिर से देखकर ठीक कर रहा था और उस विचार-शैली और सहानुभूतियों को वापस बुला रहा था, जो बीच में इनको लिखते समय उदित हुई थीं। मुझे एक सपना दिखाई पड़ा। मैंने जो कुछ अनुभव किया था और जो कुछ वर्णन किया था, उसे इस स्वप्न में घनीभूत और संक्षिप्त रूप में व्यक्त कर दिया। मैं समझता हूं कि जिन लोगों ने मुझे समझा है उनके निकट इस स्वप्न का वर्णन कर देने से उनके दिमाग में सब बातें ताजी हो जायेंगी जिनको मैंने इतने विस्तार से पहले कहा है। स्वप्न इस प्रकार था—

मैंने देखा कि मैं पलंग पर पड़ा हूं। मैं न आराम में था, न तकलीफ में; मैं पीठ के बल लेटा हुआ था। पर मैंने सोचना शुरू कर दिया कि मैं कैसे और किसी चीज पर लेटा हुआ हूं—ऐसा सवाल इससे पहले मेरे मन में पैदा नहीं हुआ था। मैंने अपने पलंग की तरफ ध्यान दिया और देखा कि मैं एक झूलने पर लेटा हुआ हूं। झूलने में दूर-दूर तक पाटियां

लगी हैं जिन पर मेरा शरीर सधा हुआ है। मेरे पांव एक पाटी पर हैं और जांघ की पिंडलियां दूसरी पाटी पर हैं। पावों को आराम नहीं मिल रहा था। मुझे इसका ज्ञान-सा था कि वे पाटियां खिसकाई जा सकती हैं। मैंने उनमें से एक पाटी को धकेलकर पांव के नीचे किया। शायद मैंने सोचा कि यह ज्यादा आरामदेह होगा; लेकिन वह मेरे धक्के से जरूरत से ज्यादा आगे खिसक गई और मैंने उस तक फिर अपना पांव पहुंचाना चाहा। इस प्रयत्न में जांघ की पिंडलियों के नीचे जो पाटी थी वह भी खिसक गई और मेरे पांव अधर में झूलने लगे। मैंने अपने सारे शरीर को खिसका करके आराम के साथ लेटने की कोशिश की। मुझे पूरा विश्वास था कि मैं तुरन्त ऐसा कर सकता हूं; लेकिन मेरे खिसकने से कुछ ऐसी गड़बड़ हुई कि मेरे नीचे की और भी पाटियां खिसककर एक-दूसरे से उलझ गईं और मैंने देखा कि सारा मामला ही बिगड़ता जा रहा है। मेरे शरीर का सारा अधोभाग खिसककर नीचे लटक रहा था, यद्यपि मेरे पांव जमीन को नहीं छू रहे थे। मैं सिर्फ अपनी पीठ के ऊपरी हिस्से के सहारे लटक रहा था। इससे न सिर्फ तकलीफ हो रही थी, बल्कि मैं डर भी गया था। तभी मैंने अपने से किसी बात के बारे में सवाल किया जिसका पहले मुझे खयाल ही नहीं हुआ था। मैंने अपने से सवाल किया : मैं कहां हूं और मैं किस चीज पर लेटा हुआ हूं? मैंने इर्द-गिर्द देखना शुरू किया। पहले मैंने उस दिशा में दृष्टि डाली, जिधर मेरा शरीर लटक रहा था और जिधर मुझे जल्द गिर पड़ने का अंदेशा था। मैंने नीचे की तरफ देखा; मुझे अपनी आंखों पर विश्वास न हुआ। मैं ऊंचे-ऊंचे मीनार और पहाड़ की ऊंचाई पर नहीं, बल्कि ऐसी ऊंचाई पर था कि उसकी कल्पना भी मेरे लिए असम्भव थी।

मैं यह भी न समझ सका कि उस निचाई में, उस अतल-पाताल में मुझे कोई चीज दिखाई भी देती है या नहीं जिसके ऊपर मैं लटका हुआ हूं और जिसकी तरफ मैं खिंचता जा रहा हूं। मेरे हृदय की शिराएं सिकुड़ने लगीं और मैं डर गया। उस तरफ देखना भी भंयकर था। जब मैं उधर

देखाता तो मुझे मालूम होता कि अन्तिम पाटी से भी खिसककर मैं तुरन्त गिर जाऊंगा। तब मैंने उधर नहीं देखा। लेकिन न देखना और भी बुरा था; क्योंकि मैं सोचने लगा कि जब मैं अन्तिम पाटी से खिसककर गिरूंगा, तब क्या होगा? मैंने अनुभव किया कि भय के कारण मेरा अंतिम आश्रय- अंतिम पाटी भी खिसक रही है और मेरी पीठ धीरे-धीरे नीचे की तरफ जा रही है। क्षण भर बाद ही मैं गिर जाऊंगा। उसी समय मुझे यह ध्यान आया कि यह सब सत्य नहीं हो सकता, यह सपना है। इससे जग जाओ! मैं अपने को जगाने की कोशिश करता हूं; पर जाग नहीं पाता। अब मैं क्या करूं? अब मुझे क्या करना चाहिए; मैं इस तरह अपने से पूछता हूं और ऊपर की तरफ नजर दौड़ाता हूं। ऊपर भी अनन्त आकाश फैला हुआ है। मैं आकाश की असीमता को देखता हूं और नीचे की—पाताल की अतलता को भूलने की कोशिश करता हूं और मैं सचमुच उसे भूल जाता हूं। नीचे की पाताल की असीमता मुझे डरा देती है; पर ऊपर की अनंतता आकर्षित करती और बल देती हैं। मैं देखता हूं कि अतल के ऊपर अब भी अंतिम पाटी मुझसे छूटी नहीं है। जानता हूं मैं लटक रहा हूं; लेकिन अब मैं सिर्फ ऊपर की ओर देखता हूं और मेरा भय दूर हो जाता है। जैसा कि सपने में होता है, एक आवाज सुनाई पड़ती है: 'इधर देखो; यही वह है!, बस मैं अधिकाधिक अपने ऊपर अनंत आकाश देखता हूं और मुझे अनुभव होता है कि मैं शांत और स्थिर हो रहा हूं। जो कुछ घटना घटी है वह सब मुझे याद है और यह भी याद है कि किस तरह वह सब हुआ; कैसे मैंने अपने पाव बढ़ाये; कैसे मैं खिसककर टंग गया; मैं कितना डर गया था और किस तरह ऊपर देखने के कारण भय से मेरी रक्षा हुई। तब मैं अपने से पूछता हूं; क्या मैं इस वक्त इसी तरह नहीं लटक रहा हूं? मैं इर्द-गिर्द देखने की जगह अपने सारे शरीर से उस आश्रय खंड का अनुभव करता हूं, जिस पर मैं पड़ा हुआ हूं। मैं देखता हूं कि अब इस तरह लटका हुआ नहीं हूं कि गिर पड़ूं, बल्कि दृढ़तापूर्वक स्थित हूं। तब मैं अपने से पूछता हूं कि मैं किस प्रकार स्थित हूं? मैं चारों ओर टटोलता हूं;

इधर-उधर नजर दौड़ाता हूं और देखता हूं कि मेरे नीचे, मेरी कमर के नीचे भी एक पाटी है और जब मैं ऊपर की ओर देख रहा हूं तब इस पर सुरक्षित रूप से लेटा रहता हूं और यही पाटी पहले भी मुझे थामे हुई थी, तब, जैसा कि सपनों में होता है, मैं अपने को स्थिर रखनेवाले साधन की बनावट की कल्पना करता हूं। यह एक बड़ा स्वाभाविक, समझ में आने लायक और अचूक साधन है—यद्यपि—जागृत व्यक्ति के लिए बनावट का कोई मतलब नहीं है। अपने स्वप्न में मुझे आश्चर्य का अनुभव भी हुआ कि इस बात को मैं और पहले ही क्यों न समझ पाया? मालूम पड़ा कि मेरे सिर के ऊपर एक खंभा भी नहीं है और उस पतले खंभे की सुरक्षा में कोई संदेह नहीं किया जा सकता, यद्यपि उसको आश्रय या सहारा देने वाली कोई दूसरी चीज नहीं है। खंभे से एक दोहरा फंदा नीचे लटक रहा है और यदि मैं उस फंदे के बीच में अपने शरीर को ठीक तरह से रखूं और ऊपर देखता रहूं तो गिरने का कोई अंदेशा ही नहीं हो सकता। यह सब मुझे स्पष्ट दीख रहा था, मैं प्रसन्न और स्थिर था। मुझे जान पड़ा कि कोई मुझसे कह रहा है: 'देखो, इसे याद रखना।'

बस मैं जग गया।

सन् 1822 ई०।

भूमिका

मेरे मित्र पी० बीरूकोव ने जब मेरी पुस्तकों के फ्रांसीसी संस्करण के लिए मेरी जीवनी लिखने का काम अपने ऊपर लिया तो उन्होंने मुझसे अपने जीवन के सम्बन्ध में जरूरी बातें लिख भेजने का अनुरोध किया।

उन्होंने जो विरोध किया था, उसे मैं पूरा करना चाहता था, इसलिए मैं मन-ही-मन अपने जीवनी की रूप-रेखा तैयार करने लगा। पहले-पहल मेरी स्मृति जीवनी की अच्छाइयों की ओर ही दौड़ी और उन्हें जैसे उभाड़ने के लिए ही चित्र में रंग भरने के समान मैंने अपने चरित्र की बुराइयां भी दीं। परन्तु अपने जीवन की घटनाओं पर अधिक गंभीरता से विचार करते हुए मैंने देखा कि ऐसी जीवनी यद्यपि सर्वांश में मिथ्या न होगी, परन्तु वह जीवन पर गलत प्रकाश डालने और उसे गलत रूप में रखने के कारण—ऐसे रूप में, जिसमें अच्छाइयों पर तो प्रकाश डाला गया है; परन्तु बुराइयों की ओर से तो आंखें ही मूंद ली गई हैं, या उनको ढकने का प्रयत्न किया गया है—मिथ्या होगी। परन्तु जिस समय मैंने अपने दोषों को जरा भी छिपाये बिना सारी बातें सच्ची-सच्ची लिखने का विचार किया, उस समय मैं, ऐसी जीवनी पढ़कर लोगों के मन में क्या भावना उठेगी, इसकी कल्पना करके कांप उठा। उसी समय मैं बीमार पड़ गया। बीमारी के समय बिस्तर पर पड़े-पड़े मेरा मन बार-बार जीवन की स्मृतियों पर दौड़ता था। वे संस्मरण वास्तव में कंपा देनेवाले थे। उस समय मुझे बिल्कुल वैसा ही अनुभव हुआ जैसा कि पुश्किन ने अपनी कविता 'स्मृतियों' में वर्णन किया है : जब हम

---

1. ये पंक्तियां सन् 1902 में लिखी गई थीं, जब टॉलस्टॉय एक लंबी भारी बीमारी के बाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे।

मरणशील प्राणियों की जगती पर दिन भर के बाद शन्ति छा जाती है, और नगरों की सुनसान सड़कों पर शोरोगुल के बाद अर्द्धपारभासक भूरी रात की छात्राएं नाचने लगती हैं, और दिन-भर की मेहनत के प्रसादस्वरूप निद्रादेवी का आगमन होता है तब मेरे लिए वह समय आत है जब गंभीर नीरवता में सारी रात के उस अनिवार्य अवकाश काल में निद्राहीन पीड़न की लंबी और सूनी घड़ियां आहिस्ता-आहिस्ता रेंगती हैं।

मेरे हृदय में पश्चात्ताप की अग्नि जोरों से धधक उठी है
मेरा मन खौल रहा है और मेरे थके और दुखते सिर में,
न जाने कितने तीखे विचारों की भीड़ लगी है,

और पुरानी अपयशपूर्ण तथा लज्जाजनक स्मृतियां नीरवता के बीच अपना कष्टकर लेखा-जोखा खोल रही हैं। मैं घृणापूर्वक अपने जीवन के इस वृत्त को देखता हूं, मैं अपने को शाप देता हूं, तड़पता हूं और बार-बार कांप उठता हूं, अनुतापपूर्ण आंसू मेरी आंखों से झर-झर गिरते हैं; पर वे मेरी दुःख पूर्ण गाथा की पंक्तियां हरगिज मिटा नहीं सकते।

इसमें सिर्फ आखिरी पंक्ति में ही इतना परिवर्तन करना चाहता हूं कि 'दुःखपूर्ण' के स्थान पर 'कलंकपूर्ण' शब्द रख दिया जाय।

इन्हीं भावनाओं में डूबते-उतरते हुए मैंने अपनी डायरी में निम्न पंक्तियां लिखीं—

6 जनवरी, 1903

"इस समय मैं नरक की यातनाओं का अनुभव कर रहा हूं। अपने पिछले जीवन की सारी बुराइयां मुझे याद आ रही हैं, ये स्मृतियां मेरे जीवन को विषाक्त बना रही हैं और मेरा पीछा नहीं छोड़तीं। लोग इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि मरने के बाद मनुष्य को अपने जीवन की घटनाएं याद नहीं रहतीं। लेकिन यह तो बड़े भाग्य की बात है। अगर मुझे अपने भावी जीवन में सब बुरे काम (पाप) याद रहें, जो मैंने इस जीवन में किये हैं और इस समय मेरी अंतरात्मा में डंक मार रहे हैं तो मुझे कितनी पीड़ा हो? यह तो हो ही नहीं सकता कि मुझे अच्छी बातें ही याद

रहें, क्योंकि अगर मुझे अपने पुण्यकार्य याद रहें तो अपने पाप-कार्य भी अवश्य याद रहेंगे। यह कितने भाग्य की बात है कि मृत्यु के साथ-साथ सब पिछली बातें भूल जाती हैं और केवल एक प्रकार की चेतना शेष रह जाती है, जो ऐसी मालूम होती है कि मानो वह अच्छे और बुरे संस्कारों से बनी एक वस्तु है, एक विषम भिन्न है, जिसे सम करने पर वह कम या अधिक, सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकती है।

हां, तो स्मृतियों का नष्ट हो जाना अत्यंत आनंददायक है। स्मृति रहने पर तो सुखपूर्वक रहना असंभव ही हो जाता। परंतु स्मृतियां नष्ट हो जाने पर तो हम नये जीवन में एक साफ पट्टी लेकर प्रवेश करते हैं, जिस पर हम नये सिरे से अच्छा और बुरा लिख सकते हैं।

यह सच है कि मेरा सारा जीवन इस प्रकार भीषण रूप से पाप-मय नहीं था। उसके केवल 20 वर्ष ही खराब थे। बीमारी के समय अपने पिछले जीवन का सिंहावलोकन करते हुए मुझे ऐसा मालूम पड़ा था कि यह युग बुराइयों से ही भरा पड़ा था; किंतु बात ऐसी नहीं है। इस अविध में भी मेरे मन में अच्छी भावनाएं उठती थीं, परंतु वे अधिक समय तक टिक नहीं पाती थी और शीघ्र ही वासनाएं उन्हें दबा देती थीं। फिर भी अपने जीवन का सिंहावलोकन करने से विशेषकर अपनी लंबी बीमारी के समय—मुझे यह साफ मालूम पड़ा कि यदि मेरी जीवनी उस तरह लिखी गई जिस तरह अधिकतर जीवनियां लिखी जाती हैं, जिसमें मेरे दोषों, अपराधों और नीच-कर्मों के संबंध में कुछ भी न कहा गया हो, तो वह जीवनी झूठी होगी। अतः यदि मेरी जीवनी लिखी ही जावे तो उसमें सारी बातें सच्ची-सच्ची प्रकट होनी चाहिए। ऐसी ही जीवनी लिखी जाने पर, चाहे उसे लिखने में लेखक को कितनी ही लज्जा क्यों न लगे, पाठकों के लिए वह लाभप्रद हो सकती है। अपने जीवन पर इस दृष्टि से विचार करते हुए अर्थात् पाप और पुण्य की दृष्टि से विचार करते हुए मैंने देखा कि मैं अपने जीवन को चार भागों में बांट सकता हूं। प्रथम चौदह साल तक की आयु का (विशेषकर आगे के जीवन की तुलना में) भोला-भाला

आनंदमय और काव्य-पूर्ण बाल्य-काल, तत्पश्चात् उसके बाद के भयानक बीस वर्ष, जो सिर्फ महत्त्वाकांक्षा, दुरभिमान और दुर्वासनाओं में व्यतीत हुए। उसके बाद विवाह से लेकर मुझे आत्म-ज्ञान होने तक के 18 वर्ष। यह काल संसारी दृष्टि से नैतिक कहा जा सकता है, अर्थात् इन 18 वर्षों में मैंने उचित रूप से और ईममानदारी से गार्हस्थ्य-जीवन बिताया। यद्यपि इन वर्षों में मैं अपने परिवार की हित चिंता करने, अपनी संपत्ति बढ़ाने, साहित्यिक क्षेत्र में उन्नति करने तथा सब तरह का आनंद लूटने में ही मग्न रहा; परंतु मैंने कोई ऐसा काम नहीं किया, जिसकी समाज निंदा करता हो या जिसे बुरा कहता हो। अंत में बीस वर्ष का वह काल है जिसमें मैं रह रहा हूं और जिसके भीतर ही मुझे आशा है कि मैं मर जाऊंगा। इसी काल के जीवन के दृष्टिकोण से मैं अपने अतीत पर विचार करता हूं और इसमें केवल उन बुराइयों के बुरे प्रभावों को दूर करने के सिवाय, जिनका आदी मैं पिछले सालों में हो गया था, मैं जरा भी परिवर्तन करना न चाहूंगा।

यदि ईश्वर न मुझे जिंदगी और शक्ति दी तो मैं इन चारों कालों की बिल्कुल सच्ची कहानी लिखूंगा। मैं समझता हूं कि मेरे ग्रंथों की बारह जिल्दों[1] में जो कलापूर्ण बकवास भरी हुई है और जिसे लोग आवश्यकता से अधिक महत्त्व देते हैं, उसकी अपेक्षा मेरी यह जीवनी अपनी कमियों के बावजूद लोगों के लिए ज्यादा लाभप्रद होगी।

अब मैं यही काम करना चाहता हूं। पहले मैं अपने आनंदमय बाल्यकाल के संबंध में कुछ कहूंगा; जो मुझे विशेष रूप से आकर्षित करता है। उसके बाद, चाहे मेरे लिए कितना भी लज्जाप्रद क्यों न हो मैं अपने जीवन के दूसरे काल के 19 वर्षों की भयानक कथा बिना कुछ छिपाये हुए कहूंगा। बाद में तीसरे काल के विषय में लिखूंगा; जो अन्य

---

1. उस समय, अर्थात् जनवरी 1906 तक, टॉल्स्टॉय की वे रचनाएं जिन्हें रूस में प्रकाशित करने की आज्ञा मिल चुकी थी, बारह भागों में प्रकाशित हो चुकी थीं। धर्म, समाज की समस्याएं, युद्ध और हिंसा आदि पर लिखी पुस्तकें आमतौर पर सेन्सरों द्वारा दबा दी गई थीं।

कालों की अपेक्षा कम रोचक है। अंत में मैं अपने चौथे काल के विषय में लिखूंगा। इसमें मेरी आंखें खुलीं; मैंने सत्य को पहचाना और मुझे जीवन की सबसे बड़ी अच्छाई और प्रतिदिन निकट आती हुई मृत्यु के प्रति आनंदमय शांति प्राप्त हुई।

पुररुक्ति-दोष से बचने के लिए अपने बाल्यकाल के संबंध में मैंने जो कुछ लिखा है, उसे दुबारा पढ़ लिया है। मुझे दुःख है कि मैंने इसे क्यों लिखा? जो यह सब मैंने लिखा है बहुत बुरा लिखा है और (यदि साहित्यिक भाषा में कहें तो) सच्चे हृदय से, ईमानदारी से नहीं लिखा गया। लेकिन इसका कोई उपाय भी नहीं था। क्योंकि पहली बात तो यह कि अपने बचपन का हाल लिखने के बजाय मैंने अपने बचपन के मित्रों का हाल लिखना सोचा था और इसके फलस्वरूप उसमें मेरे और उनके बाल्यकाल की घटनाओं एक बेजोड़ मिश्रण हो गया। दूसरे जिस समय यह लिखा गया, उस समय मेरी अपनी स्वतंत्र वर्णन-शैली कोई भी न थी और मुझ पर दो लेखकों स्टर्न और टौफर[1] का बहुत प्रभाव था।

विशेष रीति से मैं अंतिम दो भाग, 'किशोरावस्था' और 'युवावस्था' से अप्रसन्न हूं। इनमें एक तो तथ्य और कल्पना का अनुचित सम्मिश्रण है और दूसरे गैर-ईमानदारी की भावना व्याप्त है। उस समय मैं जिसे—अपनी लोकतंत्रवादी प्रवृत्ति को—उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण नहीं मानता था उसे उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण चित्रित करने की भावना व्याप्त है। मुझे आशा है कि अब मैं जो कुछ लिखूंगा वह अच्छा होगा और विशेष रीति से अन्य लोगों के लिए अधिक उपयोगी होगा।

[टॉल्सटॉय अपनी आत्मकथा लिखने का इरादा कभी पूरा नहीं कर सके। अपने संस्मरणों के अलावा, जो सन् 1878 में प्रकाशित हुए थे, वे जो कुछ लिखकर छोड़ गये, उनमें से कुछ सुन्दर अंश यहां दिये जाते हैं।—संपादक]

---

1. लारेंस स्टर्न (1713–68) अंग्रेजी उपन्यास-लेखक। रोडोल्फ टौफर (1801–1846), स्विस उपन्यासकार और कलाकार।

मेरे संस्मरण

मेरे दादी पेरागेया निकोलेवना (टॉल्सटॉय) उस अंधे राजकुमार निकालस इवोनेविच गोर्शकोवकी लड़की थी, जिन्होंने अपार संपत्ति जोड़ रखी थी। दादी के सम्बन्ध में मुझे जितना याद है, उससे मैं कह सकता हूं कि उनमें थोड़ी बुद्धि थी और उनकी शिक्षा भी थोड़ी ही हुई थी। अपने वर्ग की अन्य महिलाओं की तरह वह भी रूसी भाषा की अपेक्षा फ्रेंच अच्छी तरह जानती थीं (यह उनकी शिक्षा की सीमा थी)। पहले उनके पिता ने, फिर उनके पति ने और बाद में, जहां तक मुझे याद पड़ता है, उनके लड़के ने उन्हें बिल्कुल बिगाड़ दिया था। लेकिन कुटुम्ब के सबसे बड़े-बूढ़े व्यक्ति की पुत्री होने के कारण सभी उनका सम्मन करते थे।

मेरे दादा (उनके पति) भी, जहां तक याद है, मामूली बुद्धि के बड़े नम्र, हँसमुख और केवल उदार ही नहीं, बल्कि बड़े उड़ाऊ और साथ ही बड़े विश्वासी और श्रद्धालु व्यक्ति थे। वेलेव्स्वकी जिले में स्थित पाल्येनी (यासनाया पोल्याना नहीं) में उनकी जागीर पर बहुत दिनों तक जलसों, दावतों, नाटकों, नाच-गानों और पार्टियों की धूम रही। लेकिन बड़े-बड़े दाव लगाकर ताश खेलने और हर एक आदमी को मुक्तहस्त से कर्ज या दान देने की आदत के कारण और बाद में घरेलू झगड़ों के फलस्वरूप उन्होंने अन्त में अपनी पत्नी की विशाल जागीर पर कर्जा चढ़ा लिया। उनको पेट के भी लाले पड़ने लगे और अन्त में उनको कजान की गर्वनरी के लिए अर्जी देनी पड़ी और वह पद स्वीकार करना पड़ा। यह पद ऐसा था जो उनके ऊंचे कुल और उच्च पदाधिकारियों से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति को मिलने में कोई कठिनाई नहीं थी।

यद्यपि उस समय घूस लेना एक साधारण बात थी; लेकिन मैंने सुना

है कि (शराब के ठेकेदारों के सिवाय) उन्होंने किसी से घूस नहीं ली। यही नहीं, जब कभी उनके सामने इस तरह का प्रस्ताव रखा जाता था, तो वह नाराज होते थे। लेकिन मैंने यह सुना है कि मेरी दादी, मेरे दादा को बिना बताये रुपया ले लिया करती थीं।

कजान में मेरी दादी ने अपनी छोटी लड़की पेलागया का विवाह यशकोव के साथ कर दिया था। उनकी बड़ी लड़की की शादी पीटर्सवर्ग के काउंट आस्टन—सेकन के साथ हो चुकी थी।

कजान में अपने पति की मृत्यु होने के बाद और मेरे पिता का विवाह हो जाने के बाद मेरे दादी यास्नाया पोल्याना में मेरे पिता के साथ रहने लगीं, जहां उनके बुढ़ापे के दिनों की मुझे अब भी अच्छी तरह याद है।

मेरे दादी मेरे पिता को और अपने पोतों अर्थात् हम लोगों को बहुत प्यार करती थीं और हमारे साथ अपना मनोविनोद कर लेती थीं। वह मेरी बुआओं से भी बहुत प्रेम करती थीं, लेकिन मेरा खयाल है वह मेरी माता को ज्यादा नहीं चाहती थीं, क्योंकि वह उन्हें मेरे पिता के लिए योग्य न समझती थीं। यही नहीं, पिताजी का मेरी माता के लिए जो बहुत ज्यादा प्रेम था, उससे उन्हें ईर्ष्या होती थी। नौकरों के साथ उन्हें कड़ा बर्ताव करने की जरूरत ही नहीं पड़ती थी, क्योंकि हर एक आदमी यह जानता थ्रा कि वह घर भर में सबसे बड़ी हैं, इसलिए उन्हें खुश रखने की कोशिश करता था। परंतु अपनी नौकरानी गाशा पर वह बहुत अत्याचार करती थीं और उससे यह आशा किया करती थीं कि उससे जो काम न कहा गया हो, वह उसे भी कर रखे। वह उसे ताने में 'आप' कहकर पुकारा करती थीं और नाना प्रकार से दु:ख देती थीं। गाशा (अगाफया निखायलोवना) को मैं अच्छी तरह जानता था और यह विचित्र बात थी कि उसने भी मेरी दादी का स्वभाव स्वयं ग्रहण कर लिया था और दादी की सेवा में रहने वाली छोटी-सी लड़की को तथा उनकी बिल्ली को उसी रीति से दु:ख दिया करती थी, जिस प्रकार मेरी दादी उसे दु:ख देती थी।

मास्को जाने और वहां रहने से पहले मुझे अपनी दादी की तीन बातें

अच्छी तरह याद हैं। पहली बात उनका कपड़े आदि धोने का तरीका था। वह अपने हाथों पर एक खास तरह के साबुन से बहुत-सा झाग उठा लेती थीं, और मैं समझता हूं कि वही अकेली ऐसा कर सकती थीं। जब वह कपड़े धोती थीं तो हमें खासतौर पर उनका कपड़ा धोना देखने को ले जाया जाता था। संभवत: साबुन के झागों पर हमारा खुश होना और अचंभे से भर उठना देखकर, उन्हें भी आनंद होता था। उनकी सफेद टोपी, उनकी जाकेट, उनके बूढ़े सफेद हाथ और उन पर उठे हुए असंख्य झाग एवं एक संतोषपूर्ण मुस्कानप सहित उनका सफेद मुंह आज भी याद है।

दूसरी बात उनका बिना घोड़े की पीली गाड़ी में बैठकर पास के छोटे जंगल में अखरोट बीनने जाना था, जिनकी उस साल इफरात से पैदावार हुई थी। बिना घोड़े की उस गाड़ी को मेरे पिता के साईस खींचकर ले जाते थे। इस गाड़ी में हम लोग भी अपने शिक्षक फीडर इवानोविच को साथ लेकर घूमने जाया करते थे। उस घनी और आस-पास उगी हुई झाड़ियों की मुझे अब भी याद है जिनके बीच से हमारे पिता के साईस पेट्रश्का और मत्यूशा उस गाड़ी को, जिसमें दादी बैठी रहती थीं खींज ले जाते थे और किस प्रकार वे अखरोट के गुच्छों से लदी हुई टहनियों, जिनमें बहुत से पके हुए अखरोट अपने छिलकों से निकल-निकलकर गिर रहे होते थे, उन तक झुका देते थे। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार मेरी दादी उन्हें तोड़तीं और अपने थैले में डालती जाती थीं और किस प्रकार हम बच्चे भी कुछ टहनियां झुकाकर उसी प्रकार खुश होते थे, जिस प्रकार फीडर इवानोविच मोटी-मोटी टहनियां झुकाकर हमें अपने बल से चकित कर देते थे। हम चारों तरफ हाथ लपकाकर अखरोट तोड़ते और जब फीडर इवानोविच टहनियों को छोड़ देते और वे फिर पहले की स्थिति में पहुंच जातीं उस समय हम देखते थे कि अब भी बहुत-से-अखरोट उनमें लगे रह गये हैं, जिन्हें हमने नहीं देखा। मुझे याद है कि जंगल के खुले भाग में कितनी गर्मी और वृक्षों की छाया से कितनी ठंडक होती थी। अखरोट की पत्तियों की तीखी गंध और किस प्रकार हमारी नौकरानियां अखरोटों को

दातों से कड़कड़ाकर खाती थीं, और हम स्वयं भी बराबर मुंह चलाते हुए ताजे मधुर सफेद गूदे को खाते जाते थे, यह सब बातें मुझे अब भी याद हैं।

हम अपनी जेबों में, गोद में और गाड़ी में अखरोट भर लेते थे। दादी हमें अंदर बुला लेतीं और हमारी तारीफ़ करती थीं। हम घर किस प्रकार लौटते थे और घर लौटने पर क्या होता था, यह सब मुझे जरा भी याद नहीं। मुझे तो सिर्फ दादी, अखरोट के जंगल का खुला भाग, अखरोट के वृक्षों की पत्तियों की तीखी गंध, दोनों साईस, पीली गाड़ी तथा सूर्य सबकी एक संयुक्त सुखद याद है। मुझे ऐसा मालूम होता है कि जिस तरह साबुन के झाग वहीं उठ सकते थे जहां मेरी दादी हो, उसी प्रकार झाड़ियां, अखरोट, सूर्य तथा अन्य चीजें भी वहीं हो सकती थीं जहां मेरी दादी पीली गाड़ी में बैठी हो और पेट्रश्का और मत्यूशा उसे खींच रहे हों।

सबसे ज्यादा याद मुझे उस रात की है जो मैंने अपनी दादी के सोने के कमरे में लेव स्टीपेनिश के साथ बिताई थी। लेव स्टीपेनिश एक अंधा कहानी सुनानेवाला था। (जिस समय मैंने उसे जाना वह बूढ़ा हो चुका था।) वह मेरे दादी की प्रभुता के दिनों की यादगार था। वह एक दास था जिसे खरीदा ही इसलिए गया था कि वह कहानियां सुनाये। अंधों की स्मरण-शक्ति बड़ी तेज होती है और एक या दो बार कोई कहानी सुन लेने पर वह उसे शब्दश: याद हो जाती थी।

वह मकान के ही किसी हिस्से में रहता था; लेकिन दिनभर दिखाई नहीं पड़ता था। शाम होते ही वह मेरी दादी के ऊपर के सोनेवाले कमर में आ जाता। (यह एक नीचा और छोटा-सा कमरा था, जिसमें जाने के लिए सीढ़ियां उतरनी पड़ती थीं।) वह कमरे में खिड़की पर बैठ जाता, जहां उसके लिए मालिक की थाली का बचा हुआ भोजन ला दिया जाता था। वहां वह मेरी दादी का इंतज़ार किया करता था। मेरी दादी उसके अंधे होने के कारण उसके सामने ही कपड़े बदल लिया करती थीं। उस दिन जब दादी के कमरे में रात बिताने की बारी थी, वह लंबा गहरे नीले रंग का कोट पहने हुए खिड़की पर बैठा खाना खा रहा था। मुझे याद नहीं

कि मेरी दादी ने कहां पर कपड़े बदले, उसी कमरे में या दूसरे कमरे में या किस प्रकार बिस्तर पर सुलाया गया। मुझे केवल उस क्षण की याद है जबकि मोमबत्ती बुझा दी गई और एक छोटा लैंप सुनहरी मूर्तियों के सामने जलता छोड़ दिया गया। मेरी दादी, वह करामाती दादी, जो साबुन के आश्चर्यजनक झाग उठाया करती थी, सिर से पैर तक सफेद कपडे पहने हुए बर्फ के समान श्वेत बिछौने पर, सफेद ही चादर ओढ़े और सिर पर सफेद ही टोपी दिये ऊंचे तकिये के सहारे लेटी थी। उसी समय खिड़की से लेब स्टीपेनिश की शांत और मोटी आवाज आई, "क्या मैं कहानी शुरू करूं?' "हां, शुरू करो।" लेब स्टीपेनिश ने अपनी शांत, साफ और गंभीर आवाज में अपनी कहानी आरम्भ की। "प्रिय बहन, उसने कहा, "हमें उन सुन्दर और रोचक कहानियों में से एक कहानी सुनाओ, जिन्हें तुम इतनी सुन्दरता के साथ सुनाती हो—" शहजादी ने उत्तर दिया—"बड़े शौक से। अगर आपके स्वामी आज्ञा दें तो मैं राजकुमार कमरल्जमन की कहानी सुनाऊं।" सुल्तान की स्वीकृति मिल जाने पर शहजादी ने इस प्रकार अपनी कहानी आरम्भ की—"किसी राजा के एक ही लड़का था...।" इसी प्रकार लेव स्टीपेनिश ने भी राजकुमार कमरल्जमन की कहानी उसी प्रकार अक्षरशः कह सुनाई, जैसी कि किताब में थी। मैं न तो कुछ समझता था, न सुनता था। मैं तो सफेद वस्त्रों में अपनी दादी की रहस्यमयी मूर्ति और दीवार पर पड़ती हुई उनकी धुंधली छाया तथा सफेद ज्योतिहीन आंखवाले वृद्ध को देखने में डूबा रहता था। उस वृद्ध को यद्यपि मैं इस समय नहीं देखता; परन्तु उसकी खिड़की में बैठी हुई मूर्ति, जिसके मुंह से कुछ अजीब शब्द निकल रहे थे और वे शब्द उस पर अंधेरे से कमरे में, जिसमें केवल एक ही लैंप टिमटिमा रहा था, अत्यंत एकरस मालूम होते थे, अब भी मेरी आंखों के सामने नाच रही है। शायद मैं लेटते ही सो गया था; क्योंकि दादी के हाथों पर कपड़े धोते समय साबुन के झागों को देखकर मुझे फिर आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता हुई।"

× × ×

अपने नाना के सम्बन्ध में टॉल्सटॉय ने बताया—

अपने नाना के विषय में तो मुझे इतना याद है कि प्रधान सेनापति का ऊंचा पद प्राप्त करने के कुछ ही दिन बाद वह पोटेम्किन की भतीजी और रखेली वारवरा एंजिलहार्ट से विवाह करने से इनकार कर देने पर उस पद से हटा दिये गए। पोटेम्किन के इस प्रस्ताव पर उन्होंने उत्तर दिया— "पोटेम्किन के मन में किस प्रकार यह विचार उठा कि मैं उस वेश्या से शादी कर लूंगा?"

राजकुमारी कैथरीन डिट्रीवना ट्रबेटस्क से विवाह करने के बाद मेरे नाना उन्हीं की जागीर यास्नया पोल्याना में (जो राजकुमारी को अपने पिता सर्जे फिडोरोविच से मिली थी) रहने लगे।

राजकुमारी एक कन्या—मारया—को छोड़कर शीघ्र ही परलोक सिधार गई। अपनी प्यारी पुत्री और उसकी फ्रांसीसी सहेली के साथ मेरे नाना अपनी मृत्यु (सन् 1821 तक) वहीं रहे। वह बड़ा कड़ा काम लेनेवाले मालिक समझे जाते थे; लेकिन मैंने कभी उनकी क्रूरता की एक भी घटना या नौकरों को उतना कठोर दंड देने की बात नहीं सुनी, जितना उन दिनों दिया जाता था। मैं यह जानता हूं कि उनकी जागीर पर ऐसी बातें होती थीं; लेकिन घर के और खेत पर काम करनेवाले दासों के मन में, जिनसे मैंने कई बार इस विषय में प्रश्न किया, उनकी महत्ता और चतुरता के लिए इतना सम्मान था कि मैंने अपने पिता की बुराई तो सुनी; लेकिन अपने नाना की बुद्धिमत्ता, प्रबन्ध-कुशलता, तथा घर के और खेतों पर काम करने वाले दासों के, विशेषकर घर में काम करनेवालों के मामलों में उनकी अत्यधिक दिलचस्पी के लिए सबके मुंह से तारीफ ही सुनी। उन्होंने घरेलू दासों के लिए काफी मकान बनवा दिये और इस बात पर भी हमेशा ध्यान रखा कि उन्हें पर्याप्त भोजन, वस्त्र और आमोद-प्रमोद का सामान मिलता रहे। छुट्टी के दिन वह उनके लिए झूलों, नाच-रंग (ग्रामीण नृत्य) यथा आमोद-प्रमोद का भी प्रबंध करते थे।

उस समय के प्रत्येक बुद्धिमान भूमि-पति के समान वह खेत पर काम करनेवाले दासों की भलाई और बढ़ती के लिए बहुत चिंतित रहते थे। उनके समय में ये दास इसलिए फूले-फले कि मेरे नाना के बड़े पद पर होने के कारण पुलिसवाले उनका आदर करते थे और इसीलिए दासों को अधिकारियों की ज्यादतियों से बच निकलने का अवसर मिल जाता था।

वह सौंदर्य के बहुत प्रेमी थे और यही कारण था कि उनके सारे मकान न सिर्फ अच्छे बने हुए और आरामदेह थे, बल्कि बहुत सुन्दर और सजे हुए थे। मकान के सामने उन्होंने जो बाग लगवाया था वह बहुत ही सुन्दर व सुहावना था। शायद उन्हें संगीत से भी बहुत प्रेम था; क्योंकि उन्होंने केवल अपनी तथा मेरी माता के लिए एक छोटी परंतु सुन्दर संगीत-मंडली जोड़ रखी थी। मुझे याद है कि बाग में जहां नींबू के पेड़ों की कतारें मिलती थीं, एक बड़ा पेड़ खड़ा था जिसका तना इतना मोटा था कि तीन आदमी एक साथ उसके चारों ओर लिपट सकते थे। उसी पेड़ के नीचे संगीतज्ञों के बैठने के लिए बेंचे और मेजें पड़ी हुई थीं। किसी दिन प्रातःकाल मेरे नाना बाग में घूमने निकल जाते और गाना सुनते। उन्हें शिकार करना अच्छा नहीं लगता था। वे फूलों और पौधों के बड़े प्रेमी थे।

भाग्य-चक्र से एक दिन वह उसी वारवरा एंजिलहार्ट के संपर्क में आये, जिसके साथ विवाह करने से इनकार कर देने के कारण उनका सैनिक जीवन नष्ट हुआ था। उसने राजकुमार सर्जी फीडोरोविच गोलिटसिन से विवाह कर लिया था, जिसे इस विवाह के उपलक्ष में सब प्रकार का मान और सम्मान मिला था। मेरे नाना सर्जी फीडोरोविच और फलतः वारवरा एंजिलहार्ट के इतने निकट संपर्क में आये कि मेरी माता की सगाई बचपन में ही उन दोनों के दस लड़कों में से एक के साथ हो गई और दोनों राजकुमारों ने अपने-अपने परिवार के चित्र (जो उनके दासों द्वारा बनाये गए थे) परस्पर एक-दूसरे को दिये। गोलिटसिन परिवार के ये सब चित्र हमारे पास हैं। इनमें सर्जी फीडोरोविच का एक चित्र है, जिसमें वह सेंट

ऐण्ड्रू के आर्डर का रिबन पहने हुए हैं तथा सुसंगठित देह और लाल केशों वाली वारवरा एंजिलहार्ट का चित्र भी है। परन्तु मेरी माता की सगाई विवाह-रूप में परिणत न होनी थी क्योंकि राजकुमार विवाह से पहले ही तेज बुखार के कारण परलोक सिधार गये।

× × ×

माताजी की मुझे जरा भी याद नहीं। जिस समय मैं डेढ़ साल का था, उस समय उनकी मृत्यु हो गई। संयोग से उनका कोई चित्र भी सुरक्षित नहीं रखा गया, अत: मैं उनकी मूर्ति की कल्पना भी नहीं कर सकता। लेकिन यह भी अच्छा ही हुआ, क्योंकि अब मेरे मन में उनकी अशरीरी कल्पना है और मैं जितना भी कुछ उनके विषय में जानता हूं, सुन्दर है। मैं समझता हूं कि मेरी यह धारणा इसलिए नहीं बनी है कि उनके विषय में जिस किसी ने जो कुछ भी कहा उनकी अच्छी ही बातें बताने की कोशिश की; बल्कि इसलिए कि उनमें वास्तव में कुछ ठोस गुण और अच्छाइयां थीं।

मेरी माता सुन्दरी तो नहीं थी; परन्तु अपने समय की दृष्टि से वह अच्छी पढ़ी-लिखी थीं। रूसी भाषा के साथ (जिसे वह उस समय की प्रथा के विरुद्ध भी शुद्ध लिख सकती थीं) वह फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और इटालियन चार भाषाएं जानती थीं और ललित कलाओं के लिए भी उनके हृदय में अवश्य प्रेम रहा होगा। वह पियानो बहुत अच्छी तरह बजाती थीं और उन्हीं के समान अवस्था वाली स्त्रियों ने मुझे बताया है कि वह बड़ी रोचक कहानियां सुनाया करती थीं। वह कहानियां गढ़ती जाती थीं और सुनाती जाती थीं। उनके नौकरों के कथनानुसार यद्यपि उन्हें जल्दी गुस्सा आ जाता था, लेकिन उनका सबसे बड़ा गुण यही था कि उनमें आत्म-संयम बहुत था। गुस्से से उनका चेहरा तमतमा उठता था और वह चीखने-चिल्लाने भी लगती थीं—उनकी नौकरानी का कहना है—परन्तु उन्होंने कभी अपशब्द मुंह से नहीं निकाला; वह कोई अपशब्द या गाली जानती ही न थीं।

मेरे पिताजी और मेरी बुआओं को उन्होंने जो पत्र लिखे थे, उनमें से

कुछ पत्र और मेरे सबसे बड़े भाई निकोलेन्का के आचार-विचार की जो डायरी रखती थीं, वह मेरे पास है7 जिस समय उनकी मृत्यु हुई, मेरे बड़े भाई की आयु 6 वर्ष थी। मैं समझता हूं कि शकल-सूरत में हमसे सबकी अपेक्षा वह माता जी से अधिक मिलते-जुलते थे। उन दोनों का एक गुण मुझे बहुत प्रिय है। कम-से-कम माता जी के पत्रों से तो यही झलकता है कि उनमें यह गुण था और मुझे मालूम है कि यह गुण मेरे भाइयों में तो था ही। दोनों में यह गुण था कि दूसरे उनके प्रति क्या विचार रखते हैं, इसकी ओर से वे उदासीन रहते थे। उनमें लज्जा और संकोच तो इतना अधिक था कि वे अपनी मानसिक और नैतिक श्रेष्ठता तथा उच्च शिक्षा भी दूसरों से छिपाने की कोशिश करते थे। वे गुणों पर लज्जित होते से प्रतीत होते थे।

मेरे भाई के लिए तुर्गनेव ने ठीक ही लिखा है कि वह उन दोषों से परे थे, जो एक बड़ा लेखक होने के लिए जरूरी है। मैं अच्छी तरह जानता हूं कि अन्तिम गुण उनमें स्पष्ट रूप में था।

मुझे याद है कि किस प्रकार एक बेवकूफ और नीच आदमी ने, जो गवर्नर का सहायक था, और जो मेरे भाई के साथ शिकार खेल रहा था, मेरे सामने ही मेरे भाई की खिल्ली उड़ाई और किस प्रकार मेरे भाई ने मेरी ओर देखकर मुस्करा दिया। उसके खिल्ली उड़ाने में भी उन्हें आनंद मिला था।

माताजी के पत्रों में भी मैंने यही गुण पाया है। शायद टाटियाना एलेक्जेण्ड्रोवना एर्गोल्सकी को छोड़कर, जिनके साथ मैंने अपना आधा जीवन बिताया और जो वास्तव में अद्‌भुत नैतिक गुणवाली महिला थीं, मेरी माता निश्चय ही मेरे पिता और उनके परिवारवालों में सबसे अधिक नैतिक गुणवाली थीं।

इसके अलावा दोनों में एक खास गुण और था, और वही दूसरे लोगों-द्वारा अपनी निंदा के प्रति उनकी उदासीनता का कारण था। वह गुण था कि वे कभी दूसरों के दोष नहीं देते थे। कम-से-कम मेरे भाई में

तो जिनके साथ मैंने आधा जीवन व्यतीत किया, यह गुण अवश्य था। किसी व्यक्ति के प्रति अपनी उदासीनता वह बहुत हल्की और मीठी चुटकी (व्यंग्य) तथा हल्की और मीठी मुस्कराहट-द्वारा व्यक्त कर देते थे। यही बात मैंने माता जी के पत्रों में पाई है और उन लोगों के मुंह से भी सुनी है, जो उन्हें जानते थे।

मेरी माता में एक तीसरा गुण, जो उन्हें उनके आस-पास रहनेवाले लोगों से ऊपर उठाता है, उनके पत्रों में प्रकट उनकी सादगी और सच्चाई थी। उन दिनों बहुत बना-चुनाकर हृदय के भाव प्रकट करने का रिवाज-सा हो गया था। अपने परिचितों में अनेक संबोधन चल पड़े थे और उनमें जितनी ज्यादा अतिशयोक्ति होती थी, उतनी कम सच्चाई होती थी।

यह गुण तो मेरे पिता के पत्रों में भी पाया जाता है; लेकिन बहुत अधिक मात्रा में नहीं। वह लिखते थे—"मेरी परम मधुर संगिनी! मैं हर समय तुम्हारे साथ रहने के आनंद का ही स्वप्न देखता रहता हूं।" इसमें मुश्किल से ही कुछ सच्चाई है। परंतु मेरी माता सदा एक ही प्रकार से—"मेरे अच्छे मित्र!" लिखती थी। एक पत्र में तो वह साफ लिखती हैं—"आपके बिना दिन पहाड़ के समान लगते हैं यद्यपि यदि सच-सच लिखूं तो जब आप यहां होते तो हमें आपके साथ रहने से बहुत आनंद नहीं मिलता।" पत्र के अन्त में यह हस्ताक्षर भी उसी प्रकार किया करती थीं—"आपकी उपासिका मेरी।"

माताजी का बाल्यकाल कुछ तो मास्को में और कुछ मेरे सुयोग्य, गुणी और गर्वीले नाना के साथ गांव में बीता। मुझे बताया गया है कि वह मुझे बहुत चाहती थीं और मुझे 'मेरे प्यारे बेंजामिन' कहकर बुलाया करती थीं।

मैं समझता हूं कि उस व्यक्ति के प्रति जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी और जो बाद में मर गया था, उनका प्रेम वैसा ही रहा होगा, जैसा कि एक लड़की अपने जीवन में केवल एक बार ही अनुभव करती है। पिताजी के साथ माताजी की शादी उनके और पिताजी के संबंधियों ने ही

तय की थी। मेरी माता धनी थी, यौवन का प्रथम चरण पार कर चुकी थीं और अनाथ हो चुकी थीं। पिताजी हँसमुख और ऊंचे कुल के युवक थे; परंतु उनकी सारी संपत्ति उनके पिता इल्या टॉल्सटॉय ने पूरी तरह नष्ट कर दी थी। उसको उन्होंने इस तरह चौपट कर दिया था कि पिताजी ने बाद में उसे लेने से भी इनकार कर दिया। मैं समझता हूं कि माताजी का मेरे पिताजी पर गूढ़ प्रेम नहीं था, वह उनसे पति के नाते तथा अपने बच्चों के पिता के नाते प्रेम करती थीं। जहां तक मुझे मालूम है वह तीन-चार व्यक्तियों से ही प्रेम करती थीं। गोलिटसिन के मृत पुत्र से, जिनके साथ उनकी सगाई हुई थी, उनका विशेष प्रेम था। फिर उनकी विशेष मित्रता अपनी फ्रांसीसी सहेली श्रीमती हेनीशीन के साथ थी, जिनके संबंध में मैं अपनी चाचियों के मुंह से सुना करता था। वह मित्रता, मालूम पड़ता है, बाद में टूट गई। श्रीमती हेनीशीन ने मेरी माता के एक संबंधी राजकुमार माइकेल एलेक्जेण्ड्रोविच वोल्कान्सकी से विवाह कर लिया था, जो वर्तमान लेखक वोल्कान्सकी के पिता थे।

तीसरे मेरे बड़े भाई कोको (निकोलस) पर उनका सबसे अधिक प्रेम था। वह सबेरे से शाम तक जो कुछ करते, उसे एक डायरी में रूसी भाषा में लिखती जाती और फिर उन्हें पढ़कर सुनाती थी। इस डायरी से दो बातें साफ झलकती हैं। एक तो उन्हें अपने पुत्र को अच्छी-से अच्छी शिक्षा देने की भारी उत्कंठा थी; परंतु वह स्वयं यह नहीं जानती थीं कि अच्छी-से-अच्छी शिक्षा कैसी होनी चाहिए। वह उन्हें, उदाहरणार्थ, बहुत भावुक होने और जानवरों को पीड़ा होते देख चिल्लाने लगने पर झिड़कतीं, क्योंकि उनका विचार था कि एक मनुष्य को दृढ़ होना चाहिए— कमजोर हृदय का नहीं। भाई साहब का दूसरा दोष, जो वह दूर करना चाहती थीं, उनकी लापरवाही थी।

अपनी बुआओं से जो बात मुझे मालूम हुई और जिसे मैं भी समझता हूं कि ठीक ही होगी वह यह है कि मेरे प्रति भी प्रेम रखती थीं। इस प्रेम ने धीरे-धीरे कोको (मेरे बड़े भाई निकोलस) का स्थान ले लिया, जो मेरे

जन्म के बाद उनसे दूर हटते गए और पुरुषों के हाथ में सौंप दिये गए। उन्हें तो किसी एक को प्रेम करना ही था; इसलिए एक के स्थान में दूसरा आ गया।

माता जी का यही प्रेमपूर्ण चित्र मेरे हृदय-पटल पर अंकित है। वह मुझे इतनी विशुद्ध और महान मालूम पड़ती थीं कि अपने जीवन के मध्यकाल में जब मैं चारों ओर प्रलोभनों से घिरा हुआ संघर्ष कर रहा था, मैंने अनेक बार उनकी आत्मा से अपनी सहायता की प्रार्थना की और उस प्रार्थना ने मेरी बड़ी मदद की।

माताजी के पत्रों और उनके संबंध में दूसरों के मुंह से सुनी हुई बातों के आधार पर मैं यह कह सकता हूं कि हमारे पिताजी के परिवार में उनका जीवन सुखी और आनंदमय था।

परिवार के लोगों में मेरी दादी थीं, मेरी बुआएं थीं—काउटेंस अलेक्जेन्ड्राइलीनिशना ओस्टेन-सेकेन भी मेरी बुआ थीं और प्राशेनका को उन्होंने पाला था। एक दूर के रिश्ते की जिन्हें हम 'बुआ' पुकारते थे, टाटिआना अलेक्जेन्ड्रावना ऐरगोलस्की थी। वह मेरे दादा के घर में पली थी और जीवन भर मेरे पिता के घर रहीं।

मेरे शिक्षक फेडोक इवानोविच रेसेल थे, जिनका ठीक-ठीक वर्णन मैंने बचपन में किया है। इसके अलावा हम पांच बहन-भाई थे। निकोलस, सर्जी, मिट्रा, मैं और मेरी बहन माशेंका (मारया) जिसकी पैदाइश के वक्त माता जी की मृत्यु हो गई थी। माता जी का 9 वर्षों का छोटा-वैवाहिक जीवन बहुत सुखी और संतोषपूर्ण था। परिवार के सभी लोगों से वह स्नेह करती थीं और स्वयं सबके स्नेह की पात्र थीं। उनके पत्रों से मालूम होता है कि उस समय उनका जीवन समाज से विलग रहते हुए बीत रहा था। हमारे निकट परिचितों ओगरेव परिवारवालों और उन संबंधियों के सिवाय, जो घूमते-घामते उधर आ निकलते थे और कोई यास्नाया पोल्याना में नहीं आता था।

मेरी माता का समय अपने बच्चों की देख-रेख में, घर का प्रबंध

करने में, घूमने में, शाम को मेरी दादो की उपन्यास सुनाने में, रूसो की 'एमाइल' जैसी गंभीर पुस्तकें पढ़ने में, जो पढ़ा हो उस पर वाद-विवाद करने में, पियानो बजाने में और मेरी एक बुआ को इटालियन भाषा सिखाने में जाता था।

प्राय: सभी परिवारों में ऐसे समय आते हैं, जबकि सब लोग आनंद से रहते हैं और बीमारी या मृत्यु से पाला नहीं पड़ता। मैं समझता हूं कि मेरे माता की मृत्यु तक हमारे परिवार में भी ऐसा ही समय रहा। न तो किसी की मृत्यु ही हुई, न कोई सख्त बीमार ही पड़ा और मेरे पिताजी की बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था में बहुत कुछ सुधर गई। हर एक आदमी स्वस्थ, प्रसन्न और मित्र-भाव से रहता था। मेरे पिता हम सबका कहानियों और चुटकलों से मनोरंजन किया करते थे। परन्तु जब मैंने होश संभाला, वे अच्छे दिन बीत चुके थे, माताजी की मृत्यु हो चुकी थी और उनके शोक की गहरी छाप हमारे परिवार पर लग चुकी थी।

× × ×

मैंने ऊपर जो कुछ भी लिखा है, वह सुनी-सुनाई बातों और चिट्ठी-पत्रियों के आधार पर लिखा है। अब मैं लिखूंगा कि उस समय के मेरे अनुभव क्या हैं और मुझे क्या-क्या बातें याद हैं। मैं अपने बचपन की बातें नहीं लिखूंगा, जिनकी केवल धुंधली-सी स्मृति है और मैं नहीं कह सकती कि उनमें क्या तो वास्तविक है और क्या काल्पनिक; बल्कि मैं उस जगह से लिखना शुरू करूंगा, जहां से सब बातों, उन स्थानों और उन आदमियों की जो बचपन से ही मेरे आस-पास रहते आ रहे थे, साफ-साफ याद है। उन आदमियों में स्वभावत: पहला स्थान मेरे पिता का है। इसलिए नहीं कि उनकी मुझ पर कुछ छाप पड़ी है बल्कि इसलिए कि उनके प्रति मेरी आदर-भावना बहुत ज्यादा रही है।

अपने बचपन ही में वह अपने पिताजी के इकलौते लड़के रह गये थे। उनके छोटे भाई एलेंका रीढ की हड्डी टूट जाने से कुबड़े हो गये थे और बाल्यावस्था में ही मर गये। सन् 1812[1] में मेरे पिता की आयु केवल

17 वर्ष की थी। माता-पिता के बहुत झिड़कने, मना करने, डराने और विरोध करने पर भी वे फौज में भर्ती हो गये। उस समय मेरी दादी के (जो स्वयं गौशकोव कुल की राजकुमारी थीं) एक निकट संबंधी राजकुमार एलेक्से इवानोविच गोशकोव युद्ध-मंत्री थे। उनके भाई ऐंड्रू इवानोविच युद्ध के लिए भेजी गई सेना के एक भाग का संचालन कर रहे थे। मेरे पिता इन्हीं के जेट (सहायक) नियुक्त हुए। उन्होंने 1813-14 और 1814 के युद्धों में भाग लिया। उन्हें खरीते देकर फ्रांस में किसी जगह भेजा गया। वहां वह कैद कर लिये गये और तभी छूटे जब हमारी सेनाओं ने पेरिस में प्रवेश किया।

बीस वर्ष की आयु में मेरे पिता अनजान बच्चे नहीं रह गये थे, क्योंकि 16 वर्ष की अवस्था में, सेना में भर्ती होने से पहले, उनके माता-पिता ने उनका संबंध एक दास-कन्या से करा दिया था। उस समय ऐसे संबंध युवकों के स्वास्थ्य के लिए वांछनीय समझे जाते थे। उनसे उन्हें एक पुत्र मिशेका हुआ, जो कोचवान बनाया गया। जब तक मेरे पिता जीवित रहे, मिशेका की हालत ठीक रही, परंतु बाद में उसने अपने को चौपट कर लिया, और जब हम भाई बड़े हो गये तब वह बहुधा हमारे पास भीख मांगने आया करता। मुझे अच्छी तरह याद है कि हम लोग उस समय विमूढ़ हो जाते थे, जब मेरा यह भाई, जो हमारे पिता से शक्ल-सूरत में हम सब भाइयों से अधिक मिलता-जुलता था, अपनी हालत खराब हो जाने के फलस्वरूप हमसे 10 या 15 रूबल, हम जो कुछ उसे दे सकते प्राप्त कर बड़ी कृतज्ञता दिखाता।

युद्ध समाप्त होने के बाद पिताजी ने, फौज की नौकरी से उकताकर, जैसा कि उनके पत्रों से झलकता है, वह नौकरी छोड़ दी और अपने कजान लौट आये, जहां कि मेरे दादा गवर्नर थे। दादा की हालत उस समय बिल्कुल खराब हो चुकी थी। कजान में मेरी बुआ पेलागेया इलीनिश्ना

---

1. जब नेपोलियन ने रूस पर हमला किया। (अनु.)

भी, जिनका विवाह युश्कोव के साथ हुआ था, रहती थीं। थोड़े दिन बाद मेरे दादा मर गये और मेरे पिता के कंधों पर एक ऐसी जागीर का, जिस पर उसके मूल्य से कहीं अधिक कर्जा था, बूढ़ी दादी का, जो विलासी जीवन बिताने की आदी थीं तथा बुआ का व एक और संबंधी का भार आ पड़ा। माता जी के साथ उनका विवाह भी उस समय तय हुआ था। वह कजान से यास्नाया पोल्याना आ गये, जहां 9 वर्ष बाद वह विधुर हो गये।

हां, तो मैं अपने पिता के जीवन-चित्र पर ही फिर आता हूं। वह मझोले कद व गठीले बदन के चुस्त आदमी थे। उनका चेहरा बड़ा प्रसन्न दिखाई पड़ता था; परंतु उनकी आंखें उदास रहती थीं। उनका मुख्य धंधा खेती और मुकदमेबाजी, विशेषतः मुकदमेबाजी था। वैसे तो उस जमाने में हरेक को ही मुकदमेबाजी करनी पड़ती थी; लेकिन मेरे दादा के झगड़ों को सुलझाने के लिए पिताजी को खासतौर से बहुत मुकदमे लड़ने पड़ते थे। इन मुकदमों के कारण उन्हें अक्सर घर छोड़कर जाना पड़ता था। इसके अलावा वह बहुधा शिकार खेलने के लिए बाहर जाया करते थे। शिकार के समय उनके साथियों में उनके मित्र एक मालदार और अविवाहित सज्जन किरिवस्की, ग्लेबोव और इस्लेनेव रहते थे। अन्य जागीरदारों के समान मेरे पिताजी के घर के दासों में कुछ ऐसे थे जो उनके कृपा-पात्र थे। पेट्रूश्का और मत्यूशा, दोनों भाई उनके विशेष कृपा-पात्र थे। वे दोनों सुन्दर, कार्य-पटु तथा होशियार शिकारी थे। मेरे पिताजी जब घर रहते थे तो खेती का काम और बच्चों को देखते-भालते तो थे ही, पढ़ते भी बहुत थे। उनका अपना पुस्तकालय था जिसमें फ्रांस का उच्चकोटि का साहित्य, ऐतिहासिक ग्रंथ, प्राकृतिक इतिहास की पुस्तकें—बफन और क्यूबियर के ग्रंथ थे। मेरी बुआ कहा करती थीं कि मेरे पिताजी का यह नियम था कि पुरानी किताबें पढ़े बिना नई किताब नहीं खरीदते थे। यद्यपि उन्होंने बहुत-कुछ पढ़ा, तथापि यह मानना कठिन है कि उन्होंने 'क्रूसेड के इतिहास' और 'पोप' नामक ग्रंथ, जो उन्होंने अपने पुस्तकालय के लिए प्राप्त कर रखे थे, सारे-के-सारे पढ़ लिये होंगे।

जहां तक मैं समझता हूं, उन्हें विज्ञान से अधिक प्रेम नहीं था, परन्तु उनकी जानकारी अपने समय के साधारण आदमियों के ज्ञान के बराबर थी। ऐलेक्जेन्डर प्रथम के राज्यकाल के शुरू के समय तथा 1813–1814 और 1815 के युद्धकाल के समय के बहुत से आदमियों के समान उन्हें भी उदार दल का तो नहीं कहा जा सकता; परंतु आत्म-सम्मान की भावना के कारण ही उनके लिए एलेक्जेन्डर के प्रतिक्रियावादी राज्यकाल में या निकोलस के अधीन काम करना संभव नहीं हो सका था। वह अकेले ही नहीं बल्कि उनके सभी मित्र इसी प्रकार सरकारी नौकरियों से अलग रहे थे और निकोलस प्रथम के राज्यकाल में एक तरह से विद्रोही थे।

मेरे बाल्य-काल और यौवन-काल तक हमारे परिवार का न तो किसी सरकारी अफसर से परिचय था; न किसी प्रकार का निकट संपर्क ही था। अपने बचपन में तो मैं इनका महत्त्व ही न समझ सका। उस समय तो मैं इतना ही जानता था कि पिताजी ने कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाया उनकी वाणी मधुर, नम्र और बहुधा व्यंग्य और कटाक्षभरी होती थी। उनमें आत्म-गौरव की यह भावना देखकर ही मेरा उनके प्रति प्रेम बढ़ गया और देखकर मुझे अधिक प्रसन्नता होने लगी।

उनके पढ़ने-लिखने के कमरे में, मुझे खूब याद है, हम लोग रात को सोते समय उन्हें प्रणाम करने अथवा कभी-कभी सिर्फ खेलने जाते थे। वह कमरे में चमड़े के सोफे पर बैठे हुए तमाखू पीते होते थे। हमारे जाने पर वह हमारी पीठ ठोंकते और कभी-कभी जब वह थके होते या दरवाजे पर खड़े अपने क्लर्क से या हमारे धर्म-गुरु याजीकोव से (जो अधिकतर हमारे यहां रहते थे) बातचीत करते, तो हमें अपने सोफे की पीठ पर चढ़ लेने देते। उस समय हमें बड़ा आनंद आता था। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार वह नीचे आते और हमें तस्वीरें बनाकर देते जो हमें सर्वोत्तम मालूम होती थीं। मुझे यह भी याद है कि किस प्रकार एक बार उन्होंने मुझसे पुश्किन की कविताएं पढ़वाकर सुनीं, जो मुझे बहुत अच्छी लगी

थीं और मैंने उन्हें कंठस्थ कर लिया था। वे कविताएं—'समुद्र ओर' ओ मुक्त तत्त्व जाओ-जाओ!' और 'नेपोलियन से' आदि-आदि थीं। मैं जिस हृदयस्पर्शी और मार्मिक ढंग में इन कविताओं को पढ़ा करता था, वह उन्हें बहुत ही अच्छा लगता था। मुझसे ये कविताएं सुनने के बाद वह यार्जीकोवकी और, जो वहां बैठे थे, मर्म-भरी दृष्टि से देखने लगे। मैं समझ गया कि ये मेरे कविता पढ़ने के ढंग को अच्छा समझते हैं, अतः मैं इस पर बड़ा खुश हुआ था।

मुझे याद है कि दोपहर के व रात के भोज के समय वह बहुत-सी व्यंग्य और विनोद-भरी बातें और कहानियां सुनाते थे; और हमारे दादी, हमारी बुआएं और सब बच्चे उन्हें-सुनकर बहुत हँसते थे। मुझे उनके नगर की यात्राएं याद हैं। जब वह अपना फ्रांक-कोट और तंग मोहड़ी का पजामा पहनते तो सुन्दर लगते थे। मुझे सबसे अधिक याद उनके शिकार की व कुत्तों की है। शिकार के लिए उनका जाना मुझे खूब याद है। उनके साथ घूमने जाना और उनके शिकारी कुत्तों का उन लंबी-लंबी घास से, जो कभी उनके पेट में चुभ जाती और कभी बदन पर लगती, उत्तेजित हो उठना और पूंछ खड़ी करके चारों ओर भागना और मेरे पिताजी की तारीफ करना, ये बातें भी मुझे याद हैं। मुझे याद है कि किस प्रकार पहली सितंबर को शिकार की छुट्टी के दिन हम सब गाड़ी में बैठकर एक जंगल में गये जहां एक लोमड़ी लाई गई थी, किस प्रकार शिकारी कुत्तों ने उसका पीछा किया और किस प्रकार उन्होंने उसे किसी स्थान पर, जहां हम उन्हें देख नहीं सके, पकड़ लिया। मुझे एक भेड़िया अपने घर के पास लाये जाने और हम सब बच्चों के नंगे पैर उसे देखने जाने की भी अच्छी तरह याद है। वह भूरे रंग का विशाल भेड़ियां एक गाड़ी में पैर बांधकर बंद करके लाया गया था। वह गाड़ी में चुपचाप लेटा था लेकिन जो भी कोई उसके पास जाता उसकी ओर वह तरेरकर देखता था। बाग के पीछे एक जगह भेड़िया गाड़ी से उतारा गया। कुछ लोगों ने बड़ी-बड़ी लकड़ियों की कमानी (टिकटी) से उसे जमीन पर दबाये रखा और अन्य लोगों ने

उसके पैर की रस्सी खोलनी शुरू की। वह रस्सी के झगड़ने, उसे झंझोरने और दांतों से काटने लगा। आखिर लोगों ने पीछे से रस्सी खोल दी और उनमें से एक चिल्लाया—'उसे छोड़ दो।' कमानियां उठा दी गईं और भेड़ियां भी उठ बैठा। वह लगभग दस सेकेंड तक चुपचाप खड़ा रहा; परंतु लोग चिल्लाने लगे और शिकारी कुत्तों को भी खोल दिया गया। बस फिर क्या था, भेड़िया, कुत्ते, घुड़सवार, शिकारी सब सामने का मैदान पार करके दपहाड़ के नीचे तराई की ओर दौड़ पड़े। भेड़िया भाग गया। मुझे याद है कि इस पर पिताजी घर जाकर नाराज हुए थे।

पिताजी मुझे उस समय सबसे अच्छे लगते थे जब वह सोफे पर दादी के साथ बैठे होते थे और पेशेंस[1] खेलने के लिए ताश के पत्ते फैलाने में उनकी सहायता करते थे। वह हर एक आदमी के प्रति नम्र और मृदुभाषी थे; लेकिन मेरी दादी के प्रति तो खास तौर से विनम्र थे। मेरी दादी अपनी लंबी ठोडी झुकाये और सिर पर एक झालदार टेढ़ी टोपी लगाये, सोफे पर बैठी रहतीं और ताश के पत्ते खोल-खोलकर सामने रखती जाती थीं। बीच-बीच में वह अपनी सोने की सुंघनी चुटकी भर भरकर सूंघती जाती थीं।

पिताजी दादी के साथ सोफे पर बैठकर उन्हें पेशेंस खेलने में मदद देने की स्मृति सबसे मधुर है। एक बार, मुझे याद है, पेशेंस खेल के दरमियान, जबकि मेरी बुआ जोर-जोर से पढ़ रही थी, उनमें से एक ने बीच में रोका और एक आइने की तरफ इशारा किया और धीरे से कुछ कहा। हम सब उधर देखने लगे। बात यह थी कि एक नौकर टीखोन यह समझकर कि मेरे पिता दीवानखाने में होंगे, पढ़ने के कमरे में रखे हुए तमाखू के बड़े थैले में से तमाखू चुराने जा रहा था। पिताजी ने आइने में देखा कि वह पंजे के बल-चुपके-चुपके जा रहा था। बुआएं हँसने लगीं, दादी बड़ी देर तक न समझ सकीं, पर जब समझ गईं तो वे भी मुस्करा दीं।

---

1. पेशेंस ताश का खेल है जिसे एक आदमी अकेला ही खेलता है।

मैं अपने पिता से बहुत मुहब्बत रखता था; लेकिन वह मुहब्बत कितनी गहरी थी, यह तभी मालूम हुआ, जब वह मर गये।

सोफे के पास एक आराम कुर्सी पर खुदाई के काम की बंदूक बनानेवाली पेट्रोव्ना कारतूसों का पट्टा और एक तंग और छोटी-सी जाकेट पहने बैठी रहती। अक्सर वह कातती रहती और रील को दीवार पर दे मारती, जिसकी चोट से दीवार पर निशान पड़ गये थे। यह पेट्रोव्ना एक व्यापारी स्त्री थी जिसे मेरी दादी बहुत चाहती थीं। वह अक्सर हम लोगों के यहां रहती थी और दादी के सोफे के पास ही बैठा करती थीं। मेरी बुआएं आराम-कुर्सी पर बैठी रहतीं और उनमें से एक जोर-जोर से पढ़ती रहती थी। एक आराम-कुर्सी पर पिताजी की प्यारी कुत्ती मिल्काने अपनी जगह बना रखी थी, उसकी काली-काली सुन्दर आंखें थीं और चितकबरा रंग था। हम लोग प्रणाम करने के लिए रात में उस कमरे में जाते थे और कुछ देर के लिए वहां ठहर जाते थे।

× × ×

बचपन में टब में नहाने और कपड़े में बांधकर[1] डाल दिये जाने के ये मेरे संस्मरण सबसे पहले के हैं। मैं उन्हें एक क्रम से तो नहीं लिख सकता, क्योंकि मुझे मालूम नहीं कि उनमें कौन-सा पहला और कौन-सा दूसरा है। उनमें से कुछ के विषय में तो मुझे यह भी नहीं मालूम कि वे बातें स्वप्न में हुईं या जाग्रत अवस्था में। मैं लिपटा-लिपटाया पड़ा रहता; अपने हाथ फैलाने का प्रयत्न करता; परंतु फैला ही नहीं सकता था। मैं रोता और चिल्लाता। वह रोना-चिल्लाना मुझे स्वयं अच्छा नहीं लगता था, परंतु मैं चुप भी नहीं रह सकता था। उस समय कोई—मुझे याद नहीं कौन—आता और मेरे ऊपर झुकता। यह सब बातें कुछ-कुछ अंधेरे में होती थीं। मुझे मालूम था कि दो ही आदमी हैं। मेरे रोने-चिल्लाने से वे भी विचलित होते; परन्तु जैसा कि मैं चाहता था, मुझे खोलते नहीं थे। अतः मैं जोर-जोर से चिल्लाता। वे तो यह समझते थे कि इस प्रकार मुझे बांधे रखना आवश्यक है; परंतु मैं इसे बिल्कुल अनावश्यक समझता था और यही

बात उन्हें सिद्ध करके दिखाना चाहता था। अत: मैं जोर-जोर से रोने और चिल्लाने लगता था। यह चिल्लाहट स्वयं मुझे अप्रिय थी, परंतु मैं इसे रोक नहीं सकता था। मैं इस अन्याय और अत्याचार का—मनुष्यों का नहीं, क्योंकि वे तो मुझ पर तरस खाते थे, वरन् भाग्य का अनुभव करता और अपने ऊपर रोता था। लेकिन यह सब क्या था, इसके संबंध में न तो मैं जानता हूं और न कभी भविष्य में जानने की संभावना ही है कि आया उस समय मुझे बांधकर डाला जाता था जब कि दूध पीता बच्चा ही था (और मैं अपने हाथ छुड़ाने के लिए प्रयत्न करता रहता था) अथवा लोग मुझे उस समय भी बांधकर डाल देते थे जबकि मैं एक साल का हो गया था ताकि मैं कोई फोड़ा-फुंसी न खुरच डालूं; अथवा यह एक ही अनुभूति है और इस एक ही अनुभूति में अन्य बहुत से अनुभव भी आ मिले हैं; जैसा कि अधिकतर स्वप्नावस्था में होता है। लेकिन हां, यह तो निश्चित है कि यह मेरे जीवन की सबसे पहली और सबसे अच्छी स्मृति है। मेरे हृदय पर इसकी जो छाप है, वह रोने-चिल्लाने की स्मृति-मात्र ही नहीं है, अपितु उन अनुभूतियों के पेंचीदेपन और पारस्परिक विरोधिता की छाप है। मैं स्वतंत्रता चाहता हूं, इससे किसी को नुकसान न पहुंचेगा; परंतु सारी बात तो यह है कि मैं, जिसे शक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है कमजोर हूं, जबकि वे बलवान हैं।

दूसरी स्मृति भी बड़ी सुखद है। मैं एक टब में बैठा हुआ हूं। मेरे चारों ओर किसी चीज की, जिससे वे मेरा छोटा-सा शरीर रगड़ रहे हैं, एक तरह की गंध फैल रही है जो अप्रिय नहीं है। मेरे विचार से वह गंध चोकर है, जो मुझे नहलाने के टब में डाल दी गई। उस चोकर की गंध व स्पर्श से जो सुन्दर व अभूतपूर्व संवेदना उठी उसने मुझे जाग्रत कर दिया और पहली बार ही मुझे अपने शरीर का, जिसकी छाती पर पतली-पतली हड्डियां साफ दिखाई दे रही थीं, चिकनी लकड़ी के गहरे रंग के टब का, धाय मां के खुले हाथों का, भाप उठते हुए और चक्कर खाते हुए गरम पानी का, छपछपाने की आवाज का, टब के गीले किनारों पर हाथ फेरने

पर उसकी चिकनाई का भान और बोध हुआ और वे सब चीज़ें मुझे अच्छी लगने लगीं। यह सोचकर आश्चर्य और भय मालूम होता है कि जन्म से लेकर तीन साल की आयु तक, जब मैं स्तन-पान कराकर रखा जाता था और जब मेरा स्तन-पान करना छुड़ाया गया और जब पहले-पहल घुटनों के बल चलना, फिर खड़े होकर चलना और कुछ बोलना सीखा था, मुझे उन दो और बातों अर्थात् नहाने और कपड़े में बंधे रहने के अतिरिक्त बहुत दिमाग खरोचने पर भी कोई घटना याद नहीं आती। आखिर मैं इस संसार में कब आया? मेरा जीवन कब आरम्भ हुआ? उस समय मैं जिस अवस्था में था, उसकी कल्पना इतनी सुखद क्यों है? क्यों यह सोचकर कि मृत्यु के समय भी ऐसी ही अवस्था हो जायेगी जब जीवन की किसी घटना की स्मृति नहीं रहेगी जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त किया जा सके, हृदय थर्रा उठता है—एक समय यह सोचकर मेरा भी हृदय थर्रा उठता था और अब भी बहुत-से लोगों का थर्रा उठता है। क्या मैं उस समय जीवित नहीं था जबकि मैं देखना, सुनना, समझना, बोलना, स्तन-पान करन, हँसना और अपनी माता को प्रसन्न करना सीख रहा था। अवश्य मैं जीवित था और आनंद से रह रहा था। क्या उस समय मेरे पास वे सब चीजें नहीं थीं, जिनसे अब मैं जीवित रह रहा हूं? क्या मैंने उसी समय इतना कुछ, इतनी शीघ्रता से प्राप्त नहीं कर लिया कि उसका सौंवा भाग भी बाद के सारे जीवन में फिर प्राप्त नहीं हुआ। पांच साल के बालक से इस आयु तक मानों मैं एक कदम चला हूं, जन्म के समय से पांच साल की आयु तक बड़ा लम्बा रास्ता था, गर्भ में आने के समय से जन्म होने के बीच एक लंबी खाई थी, परंतु गर्भ में अपने की पूर्व स्थिति से गर्भ में आने का तक का समय एक लंबी खाई नहीं वरन् अगम्य और अचिंत्य हैं। तीन तत्त्व आकाश, काल, कारण व कार्य हमारी कल्पना के ही मूर्त्त-रूप है। हमारे

1. रूस में यह प्रथा थी कि छोटे-छोटे बालकों को कपड़े में इस प्रकार लपेट देते थे कि वह हिल-डुल न सकें और हाथ-पैर न चला सकें।

जीवन का सार इन कल्पनाओं से परे नहीं है, अपितु हमारा सरा जीवन इन कल्पनाओं का अधिकाधिक दास होते जाना और फिर उनसे मुक्त होना ही है।

टब के बाद जो तीसरा अनुभव आता है वह ईरीमीवना का है। 'ईरीमीवना' वह हौवा था, जिससे लोग हम बच्चों को डराया करते थे। शायद वे बहुत समय से इस तरह डराते रहे होंगे, परंतु मुझे जो इसकी याद है, वह यों है : मैं अपने बिस्तरे पर पड़ा हूं और रोज की तरह प्रसन्न हूं। इसी समय मुझे पालने-पोसनेवालों में से कोई आता है और एक नई-आवाज बनाकर मेरे सामने कुछ कहकर चला जाता। मैं प्रसन्न होने के साथ-साथ डर भी जाता। मेरे साथ मेरे कमरे में मेरे-जैसा कोई और होता। संभवत: वह मेरी बहन मारया थी। उसका पालना भी मेरे ही कमरे में था। मुझे याद है कि मेरे पालने के पास एक परदा भी पड़ा हुआ था। मैं और मेरी बहन दोनों इस अद्भुत घटना पर, जो कि घटनेवाली है प्रसन्न भी होते और डरते भी। मैं तकिये में छिप जाता और उसके नीचे के दरवाजे की ओर देखता। दरवाजे में से कोई अद्भुत और प्रसन्नता देने वाली वस्तु के आने की आशा रखता था। उसी वक्त कोई ऐसे कपड़े और टोपी पहने हुए आता जिसे पहले मैंने कभी न देखा था। मैं इतना तो अवश्य जान जाता कि यह व्यक्ति हमारा परिचित है (वह हमारी बुआ थी या धाय, यह मुझे याद नहीं) और वह किन्हीं बुरे बच्चों और ईरीमीवना के विषय में कर्कश स्वर में न जाने क्या कहता था! मैं सचमुच डर जाता और डर से और प्रसन्नता से किलकारियां मारता; परंतु फिर भी उस डर में मुझे आनंद आता और मैं यह नहीं चाहता कि मुझे डरानेवाला व्यक्ति यह समझ जाय किमैंने उसे पहचान लिया है।

इसी ईरीमीवना से मिलता-जुलता एक और अनुभव है और चूंकि वह इस अनुभव से अधिक स्पष्ट है, अत: मैं समझता हूं कि वह काफी बाद का है। उसका आशय मैं आज तक नहीं समझ सका हूं। इस घटना से हमारे जर्मन शिक्षक थियोडोर इवानिच का प्रमुख भाग है। किंतु चूंकि

उस समय तक मैं उनको नहीं सौंपा गया था इसलिए मैं समझता हूं कि मेरी यह घटना मेरी पांच साल की आयु के पहले की होगी। अपनी याद में थियोडोर इवानिच के संपर्क में आने का यह मेरा पहला अवसर था और यह घटना भी इतने पहले हुई कि इसमें थियोडोर के अतिरिक्त अपने भाइयों या पिता की जरा भी याद नहीं। यदि इस संबंध में मुझे किसी का जरा भी खयाल है तो वह मेरी बहन का है और वह भी इसलिए कि वह मेरी ही तरह ईरीमीवना से डरती थी। इस घटना के साथ-साथ मुझे एक बात और याद है और वह यह कि हमारे मकान में एक ऊपर की मंजिल और थी। मैं उस मंजिल में कैसे पहुंचा, अपने-आप गया अथवा कोई दूसरा आदमी मुझे ले गया, यह तो मुझे याद नहीं; लेकिन यह मुझे अवश्य याद है कि हममें से बहुतों ने वहां पहुंचकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर घेरा डाल लिया। हमारे साथ कुछ स्त्रियां भी थीं, जिन्हें मैं नहीं जानता। परंतु, हां, किसी भी प्रकार मुझे यह मालूम हो गया कि वे धोबिनें थीं। हम सब गोल चक्कर में घूमते और कूदते। थियोडोर इवानिच बहुत ऊंचे-ऊंचे पैर उठाता और बड़ी आवाज से जमीन पर पटकता। मैंने उसी समय यह महसूस किया कि यह बात गलत और खेल को बिगाड़नेवाली है। मैं उसे देखता और (शायद) चिल्लाने लगता। बस उसी वक्त सारा खेल खत्म हो जाता।

बस पांच साल तक मुझे इतना ही याद है। इसके अलावा मुझे अपनी धायों, बुआओं, बहनों, भाइयों, यहां तक कि पिताजी व अपने कमरों और अपने खिलौनों तक की भी याद नहीं। अपने बाल्य-जीवन की घटनाओं की अधिक स्पष्ट स्मृति तो उस समय से आरम्भ होती है जबकि मैं नीचे की मंजिल थियोडोर इवानिच तथा बड़े-बड़े लड़कों के पास पुरुष-ग्रह में आ गया।

जबकि मैं नीचे थायोडारे इवानिच और बड़े लड़कों के पास आ गया उसी समय जीवन में पहली बार और इसलिए अधिक तीव्रता से मुझे उस भावना का और उन धार्मिक आचरणों का अनुभव हुआ, जिसे कर्तव्य की

भावना कहते हैं और जिनका पालन हरेक को करना पड़ता है। जन्म से ही जिन चीजों और जिन आदतों का मैं आदी हो गया, उन्हें छोड़ना कठिन था। मैं स्वभावत: ही उदास रहने लगा, इसलिए नहीं कि मैं अपनी धाय से, बहन से और बुआ से अलग हो गया, बल्कि यह उदासी इसलिए थी कि मैं अपने पालने, अपने परदे और अपने तकिए से बिछुड़ गया था। यही नहीं, मैं अपने उस नये जीवन से, जिसमें कि मैं प्रवेश कर रहा था, कुछ डरने-सा लगा। मैं उस भावी जीवन के अच्छे अंश को ही देखने और थियोडोर के लाड़ और दुलार-भरे शब्दों में विश्वास करने की कोशिश करता था। मैंने उस अपमान और घृणा के भाव की ओर से आंखें मूंद लीं जो मुझे सबसे छोटे लड़के के प्रति दूसरे लड़के दिखाते थे। मैं इस बात को अपने मन में बिठाने की कोशिश करने लगा कि एक बड़े लड़के का लड़कियों के साथ रहना शर्म की बात है और यह भी कि धाय आदि के साथ ऊपर की मंजिल में (अर्थात रनवास में) जीवन व्यतीत करना अच्छा नहीं है। परंतु फिर भी मेरा मन सदा उदास रहता था और मैं जानता था कि मेरा भोलापन और आनंद इस बुरी तरह नष्ट हो रहा है और अब वह कभी प्राप्त न होगा। बस, आत्माभिमान और आत्म-गौरव तथा कर्तव्य-पालन की भावना ही ऐसी थी जिसने मुझे रोक रखा। इसी तरह भावी जीवन में कोई नया काम आरंभ करते समय किसी दुविधा में या धर्म-संकट में पड़ जाने पर मैं इन्हीं दो भावनाओं से किसी निश्चय पर पहुंचता था। मुझे उस हानि पर, जिसकी मैं पूर्ति नहीं कर सकता था, बड़ा दु:ख होता था। यद्यपि मुझसे यह कहा गया था कि अब मुझे लड़कों के साथ रखा जाना चाहिए; परंतु इस पर भी मैं तो यह कभी विश्वास ही नहीं कर सका कि ऐसा कभी होगा। जो गाउन मुझे पहनाया जाता था उसमें एक पेटी भी कमर में बांधने के लिए थी और मुझे ऐसा मालूम होता था मानो इस पेटी में सदा के लिए ऊपर की मंजिल—(जहां स्त्रियां रहती हैं अथवा यदि राजसी-भाषा में कहें तो रनवास)से मेरा संबंध तोड़ दिया है। इस वक्त जिन व्यक्तियों के साथ मैं रह चुका था, उनका खयाल तो मुझे

याद आया नहीं, मगर वहां की एक मुख्य स्त्री का, जिसके बारे में इसके पहले की कोई बात मुझे याद नहीं है, खयाल आया। वह महिला थी टाशियाना एलेक्जेंड्रोवना एगॉल्सकी। मुझे उनका ठिगना और सुसंगठित शरीर, काले-काले केश, दयालु और नम्र स्वभाव अब भी याद है। उन्होंने ही वह गाउन मुझे पहनाया था और मुझे छाती से लगाकर चूमते हुए उन्होंने ही मेरी कमर में पेटी बांधी थी। उस समय मैंने देखा कि वह भी मेरे जैसा अनुभव कर रही थी कि यह बड़े दु:ख का अवसर है। परंतु यह तो होता ही है। उसी समय जीवन में पहली बार मैंने जाना कि जीवन कोई खेल नहीं वरन् गंभीर वस्तु है।

× × ×

माता-पिता के बाद मेरे जीवन पर जिनका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा, वह टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोवना ऐगॉल्सकी थी, जिन्हें हम बुआ कहा करते थे। वह मेरी दादी के पीहर के नाते से कोई बहुत दूर की रिश्तेदार थीं। अपने माता-पिता की मृत्यु के बाद वह और उनकी बहन लीसा अनाथ हो गईं। लीसा ने बाद में पीटर ईवानोविच टॉल्सटॉय से विवाह कर लिया था। उनके कुछ भाई थे, जिनके पालन-पोषण का प्रबन्ध उनके संबंधियों ने किसी प्रकार कर दिया था। दोनों लड़कियों की शिक्षा-दीक्षा का भार चर्न जिले में अपने क्षेत्रों में प्रसिद्ध, अभिमानी और प्रमुख महिला टाशियाना सीमोनोव्ना स्कूरेटोब और मेरी दादी ने ले लिया। उन्होंने पर्चियों पर लड़कियों के नाम लिखकर उन्हें मोड़कर देव-मूर्ति के सामने डाल दिया और उसकी प्रार्थना कर लाटरी उठाई। लीसा टाशियाना सीमीनोव्ना के हिस्से में आई और यह मेरी दादी के। हमारे घर में वे तेनिश्का पुकारी जाती थीं। दोनों का जन्म 1795 ई. में हुआ था। उनकी आयु मेरे पिता के बराबर थी। उन्हें मेरी बुआ के बराबर ही शिक्षा दी गई थी और घर में सब लोग उन्हें प्यार करते थे। कोई उनसे नाराज तो हो नहीं सकता था; क्योंकि वह दृढ़, उत्साही और आत्म-त्याग करनेवाली, चरित्रवान महिला थीं। उनके चरित्र की दृढ़ता एक घटना से साफ झलकती है जो वह हमें

अपने हाथों में हथेली के बराबर जले स्थान का दाग दिखाकर सुनाया करती थीं। वे सब बच्चे म्यूकियस स्केवोला की कहानी पढ़ रहे थे। उन्होंने आपस में कहा कि जैसा उसने किया वैसा कोई नहीं कर सकता। तेनिश्का ने कहा, "मैं वैसा कर दिखाऊँगी।" मेरे धर्म-पिता याजीकोव ने कहा, "तुम नहीं कर सकतीं।" और उन्होंने तुरंत एक रूल मोमबत्ती में गरम किया और जब वह पिघलने लगा और उनमें से धुंआ निकलने लगा तो उन्होंने कहा, "लो अब इसे अपने हाथ पर लगाओ।" तेनिश्का ने अपना खुला हाथ बढ़ा दिया (उस समय लड़कियां आधी बाहों का कपड़ा ही पहनती थीं) और याजीकोव ने वह जलता हुआ रूल उनके हाथ पर दबा दिया। वह खीजीं तो, परंतु उन्होंने अपना हाथ पीछे न हटाया; और उस समय तक उ.फ न किया जब तक याजीकोव ने वह रूल हटा नहीं लिया। इस रूल के साथ ही उनके हाथ की चमड़ी भी उधड़ गई। जब घर के बड़े आदमियों ने पूछा कि यह कैसे जल गया तो उन्होंने कहा कि यह मैंने अपने हाथ से जला लिया है, क्योंकि मैं यह देखना चाहती थी कि म्यूकियस स्केवोलाको उस समय कैसा अनुभव हुआ होगा।

सभी बातों में वह ऐसी ही थीं। उनमें दृढ़ता थी, साथ ही आत्म-त्याग था। घने, काले और घुंघराले बालों की गुथी हुई लटों, काली-काली आंखों तथा प्रफुल्ल मुख-मंडल सहित वह बड़ी सुन्दर और आकर्षक मालूम पड़ती रही होंगी।

मुझे उनकी तब की याद है, जब वह 40 वर्ष से ऊपर थीं और मेरे मन में कभी यह विचार भी नहीं उठा कि वह सुन्दर हैं या नहीं। मैं उन्हें प्यार करता था, उनकी आंखों को, उनकी मुस्कराहट को, उनके छोटे-छोटे हाथों को प्यार करता था।

संभवत: वह मेरे पिता को प्यार करती थीं और मेरे पिता भी उनसे प्रेम करते थे; परन्तु उन्होंने युवावस्था में उनसे विवाह नहीं किया। उन्होंने सोचा कि मेरी धनी माता से विवाह करने में उन्हें लाभ होगा। बाद में (अर्थात् मेरी माता की मृत्यु के बाद) उन्होंने इसलिए उनसे विवाह नहीं

किया कि वह अपने और पिताजी के तथा हमारे बीच जो काव्यमय संबंध था, उसे बिगाड़ना नहीं चाहती थीं। एक सुन्दर बस्ते में बंधे उनके कागजों में सन् 1836 की यानी मेरी माता की मृत्यु के 7 साल बाद की लिखी हुई निम्न पंक्तियां मिली हैं—

"16 अगस्त, 1836। निकोलस ने मेरे सामने आज एक विचित्र प्रस्ताव रखा, वह यह कि मैं उससे विवाह कर लूं और उसके बच्चों की माता बन जाऊं तथा उन्हें कभी न छोड़ूँ। मैंने पहला प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया; लेकिन दूसरे को जीवन रहते निबाहने का वायदा किया।"

इस प्रकार उन्होंने लिखा था; लेकिन उन्होंने इस बात का हमसे या किसी और से भी कभी जिक्र नहीं किया। पिताजी की मृत्यु के बाद उन्होंने उनकी दूसरी बात पूरी की। हमारी दो बुआएं और एक दादी थीं, जिनका हमारे ऊपर टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना से अधिक अधिकार था। टाशियाना एलेक्जेंड्रोव्ना को बुआ कहने की हमारी आदत पड़ गई थी अन्यथा रिश्ते में तो वह हमसे इतनी दूर थीं कि मैं उस संबंध की याद भी नहीं कर सकता। परंतु अपने प्रेम के कारण ही (घायल हंस की कथा में बुद्ध के समान) हमारे पालन-पोषण में उनका सबसे अधिक हाथ रहा और हम इसे अनुभव करते थे।

मैं तो उनके प्रेम में उन्मत्त हो जाया करता था। मुझे याद है कि किस प्रकार एक बार जब मैं पांच वर्ष का था, ड्राइंग रूम में सोफे के पीछे से हाथ डालकर उनसे लिपट गया और किस प्रकार दुलार और प्यार से उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने भी उनका हाथ पकड़ लिया और उसे चूमने लगा और प्रेमोन्मत्त होकर किलकारियां मारने लगा।

एक अमीर घराने की लड़की के समान ही उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। वह रूसी भाषा से फ्रांसीसी भाषा अच्छी लिख और बोल सकती थीं। पियानो भी बहुत सुन्दर बजाती थीं; परंतु लगभग 30 साल से उन्होंने उसे छुआ तक नहीं था। जब मैं बड़ा हो गया और मैं भी पियानो बजाना सीखने लगा तो उन्होंने भी उसे बजाना शुरू किया। कभी-कभी जब हम दोनों

मिलकर गाते तो वह अपने मधुर स्वर के ठीक उतार-चढ़ाव और ताल-सवर मिले हुए गाने से मुझे चकित कर देतीं।

अपने नौकरों के प्रति वह बड़ी दयालु थीं। उनसे कभी नाराज होकर नहीं बोलती थीं। उनको मारने और पीटने का तो विचार भी उन्हें सह्य नहीं था। फिर भी इतना मानती थीं कि दास तो आखिर दास ही हैं और उनके साथ मालकिन जैसा बर्ताव करती थीं। फिर भी वे लोग उन्हें औरों से भिन्न मानते थे और सब उन्हें प्यार करते थे। जब उनकी मृत्यु हुई और वह अंत्येष्टि-क्रिया के लिए गांव में होकर ले जाई जा रही थीं, उस समय सारे-के-सारे किसान अपने घरों से निकल आये और उनके लिए प्रार्थना करवाई।[1] उनका एक विशेष गुण उनका प्रेम था; लेकिन वह प्रेम, मैं चाहता था कि ऐसा न होता तो अच्छा था, केवल एक ही आदमी अर्थात् पिताजी के प्रति था। उसी केन्द्र से फैलकर उनका प्रेम सबको मिलता था। हम यह अनुभव करते थे कि वह हमें हमारे पिताजी के कारण ही प्रेम करती हैं। वह उनके द्वारा ही किसी और को प्रेम करती थीं, क्योंकि उनका सारा जीवन प्रेममय था।

यद्यपि हमारे प्रति अपने प्रेम के कारण उनका हमारे ऊपर अधिक अधिकार था; लेकिन फिर भी हमारी बुआओं का हमारे ऊपर उनसे अधिक कानूनी अधिकार था, और जब पेलागेया इलीनिच्ना हमें कजान ले जाने लगी तो वह उनका अधिकार मान गई। लेकिन इससे हमारे प्रति उनके प्रेम में तिल-मात्र भी अंतर नहीं आया। यद्यपि वह अपनी बहन काउंटेस ई० ए० टॉल्सटॉय के साथ रहती थीं, लेकिन वास्तव में उनका मन हमारे यहां रहता था। और यथासंभव जल्दी-से-जल्दी हमारे यहां

---

1. उस समय मृत व्यक्ति की आत्मा की शांति के लिए पदाधिकारियों को थोड़ी-सी दक्षिणा देकर प्रार्थना कराने की प्रथा तो थी; परंतु किसानों द्वारा किसी महिला के लिए, जो उनके गांव की मालकिन भी न हो, ऐसी प्रार्थनाएं कराना असाधारण बात थी।

लौट आती थी। वह अपने जीवन के अंतिम 20 दिनों में हमारे साथ यास्याना पोल्याना में रहीं और वह मेरे लिए बड़ी प्रसन्नता की बात थी। लेकिन हम अपनी प्रसन्नता का मूल्य आंकने में असमर्थ रहे थे; क्योंकि सच्ची प्रसन्नता तो मौन और अलक्षित होती है। मैं उसकी कदर अवश्य करता था; लेकिन वह पर्याप्त नहीं थी। उन्हें अपने कमरे में मर्तबानों में मिठाई, अंजीर, सोंठ पड़ी हुई मोटी रोटी और खजूर रखने का शौक था और वह विशेष रूप से मुझे ये चीजें दिखलाया करती थीं। मुझे यह बात कभी नहीं भूलती और स्मरण आने पर हृदय में पश्चात्ताप की एक तीखी चुभन होती है कि इन चीजों के लिए उनके रुपया मांगने पर मैंने हर बार इनकार ही कर दिया और वह सदा ठंडी सांस खींचकर चुप हो गईं। यह सच है कि मुझे स्वयं रुपयों की जरूरत थी; लेकिन अब तो मुझे जब कभी भी स्मरण होता है कि मैंने उन्हें रुपया देने से इनकार किया तो उस समय मैं सिहर उठता हूं।

तब की बात है जब मेरा विवाह हो चुका था और वह भी कमजोर हो चली थीं। एक दिन हम सब उनके कमरे में जमा थे। मौका देखकर, पीछे को मुंह फेरकर (मैंने उस समय देखा कि वह रोने ही वाली हैं) उन्होंने कहा—"देखो मेरे प्यारे बच्चे, मेरा कमरा अच्छा है और शायद तुम्हें इसकी जरूरत पड़े।" और उनकी आवाज कांपने लगी—"अगर मेरी इसी कमरे में मृत्यु हुई तो मेरी स्मृति तुम्हें दु:ख पहुंचावेगी; अत: मुझे और कोई कमरा दे दो ताकि इस कमरे में न मरूं।" मेरे प्रति उनका बचपन से ही, जबकि मैंने उन्हें समझा भी नहीं था, तब से, ऐसा ही प्रेम था।

मैं ऊपर कह चुका हूं कि टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना का मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा था। उन्होंने मुझे पहले-पहल, बचपन में प्रेम कें आध्यात्मिक आनंद का पाठ पढ़ाया। यह शिक्षा उन्होंने पुस्तकों या उपदेशों द्वारा नहीं दी, बल्कि अपने संपूर्ण जीवन से उन्होंने मुझे प्रेम से लबालब भर दिया।

मैंने यह देखा और अनुभव किया कि उन्हें प्रेम करने में कितना आनंद आता है। मैं स्वयं भी प्रेम के उस आनंद को समझता था। दूसरी बात जो मैंने सीखी, वह शांत और स्थिर जीवन का आनंद था।

× × ×

(अर्द्ध-विक्षिप्त साधुओं के संबंध में, जो एक तीर्थ-स्थान से दूसरे तीर्थ-स्थान में घूमा करते थे और रूस में जहां-तहां दिखाई पड़ते थे और उनमें से कुछ टॉल्सटॉय के घर भी जब-तब आया करते थे, वह लिखते हैं:)

ग्रीशा (जिसका 'बचपन' में उल्लेख है) एक काल्पनिक चरित्र था। इस तरह के 'नाना' साधु हमारे घर पर आते रहते थे। मैं उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखना सीख गया था। उसके लिए मैं उन लोगों का आभारी हूं जिन्होंने मुझे शिक्षा-दीक्षा दी। यद्यपि उनमें से कुछ ऐसे भी थे जो शुद्ध हृदय के नहीं थे और जिनके जीवन में किसी समय कमजोरियां थीं; परन्तु उनके जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य विवेक-शून्य होते हुए भी बहुत ऊंचा था और मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता है कि मैं बचपन से ही उनकी महानता पहचानने लगा। उनका आचरण एक प्रकार से मारकस ओरिलिअस के इस कथन की पूर्ति करता था कि "एक अच्छे जीवन के लिए घृणा सह लेने से बढ़कर संसार में दूसरी चीज नहीं है।" अच्छे कामों की दूसरों से प्रशंसा पाने का लोभ इतना हानिकार और अनिवार्य है कि हमें उन लोगों के साथ सहानुभूति दिखानी ही चाहिए, जो प्रशंसा से दूर रहने की अथवा कभी-कभी दूसरों के मन में घृणा करने की चेष्टा करते हैं। एसे ही साधुओं से मेरी बहन की धर्म-माता मेरिया जेरासीमोव्ना, अर्द्ध-मूढ़ एवडोकीमुश्का तथा अन्य थे, जो हमारे घर आया करते थे।

और हम बच्चे इन साधुओं के भजन सुनकर अपने मालिक के सहायक अकीम नामक मूर्ख आदमी के भजन सुना करते थे। उसके भजन मुझे चकित कर देते थे और हृदयस्पर्शी लगते थे। इन भजनों में वह ईश्वर को एक जीवित मनुष्य के समान संबोधन करता और हृदय में पक्के विश्वास और धारणा के साथ कहता—"तुम मुझे अच्छा करने चले हो,

तुम मुझे मुक्ति दिलानेवाले हो।" उसके बाद वह कयामत के दिन के संबंध में भजन गाता कि किस प्रकार ईश्वर उस दिन न्याय और अन्याय को अलग करेगा और पापियों की आंखों में पीली रेत भर देगा।

मेरे भाइयों और बहनों के अतिरिक्त मेरी ही उम्र की एक लड़की ड्यूनेश्का टेमीअशोव भी हमारे घर में तब रहती थी, जब मैं पांच वर्ष का था। यह बताना जरूरी है कि वह कौन थी और किस प्रकार हमारे यहां आई। जब हम बच्चे थे तो उस समय हमारे घर पर हमारे फूफा यशकोव जब-तब आया करते थे। उनकी काली मूंछ, गलमुच्छा और चश्मा हम बच्चों को अचंभे में डाल देता था। दूसरे सज्जन मेरे धर्म-पिता एस० आई० याजीकोव थे। उनके शरीर से हमेशा तमाखू की बदबू आया करती थी और मुंह पर लटकती हुई चमड़ी की वजह से उनकी सूरत भद्दी लगती थी। वह अजीब-अजीब तरह से तरह मुंह मोड़ा करते थे। इन दो सज्जनों तथा हमारे दो पड़ोसियों ओगरेव और इस्लेनेव के अतिरिक्त हमारी माता के (पीहर के रिश्ते के) एक और दूर के संबंधी आया करते थे। यह एक धनी अविवाहित सज्जन थे। उनका नाम टेमीअशोव था। वह पिताजी को भाई कहकर पुकारा करते और उनके प्रति अगाध प्रेम रखते थे। वह यास्नया पोल्याना से 40 वर्स्ट[1] (लगभग 27 मील) की दूरी पर पीरोगोव नामक गांव में रहते थे। एक बार वह वहां से सुअर के छोटे-छोटे दूध पीते बच्चे लाये, जिनकी पूछें गोल लिपटी हुई थीं। उन्हें नौकरों के कमरे में एक बड़ी रकाबी में रख दिया। मेरे मन में टेमीअशोव, पीरोगोव और सूअर के बच्चे तीनों का चित्र एक ही साथ जुड़ गया।

इसके अतिरिक्त टेमीअशोव हम बच्चों को इस कारण भी अच्छे लगते कि वह पियानो पर नाचने की एक गत (बस वह केवल वही एक गत बजा भी सकते थे) बजाते थे और हम सब बच्चों को उस पर नचाते थे। हम पूछते कि वह कौन-सा नाच है तो कहते इस गत पर सब तरह के

---

1. एक वर्स्ट 3500 फुट का होता है।

नाच नाचे जा सकते हैं। हम लोग भी ऐसा मौका पाकर बड़े प्रसन्न होते थे।

एक दिन जाड़ों की रात थी। हम चाय पी चुके थे और शीघ्र ही बिस्तरों पर ले जाये जानेवाले थे। मेरी आंखें नींद के मारे झंपी जा रही थीं। उस समय अचानक नौकरों के मकानों की ओर से बड़े दरवाजे से होकर एक आदमी ड्राइंग रूम में, जहां हम केवल दो मोमबत्तियों के धुंधले प्रकाश में बैठे हुए थे, हलके-हलके पैर रखता हुआ जल्दी से आया और बीच कमरे में पहुंचते ही घुटनों के बल गिर पड़ा। उसके हाथों में जो सुलगती हुई सिगरेट पाइप थी, वह जमीन पर गिर पड़ी और उससे जो चिनगारियों उड़ीं, उनका प्रकाश उसके मुख पर पड़ा। हमने देखा कि वह टेमीअशोव है। वह पिताजी के सामने घुटने टेककर कुछ प्रार्थना कर रहा था। मैं नहीं जानता कि उसने क्या कहा, क्योंकि मैं उसकी बात सुन ही न सका। मुझे तो बाद में यह मालूम हुआ कि वह मेरे पिता के सामने घुटने टेककर इसलिए बैठा कि वह अपनी नाजायज लड़की ड्यूनोश्का को जिसके विषय में वह पहले भी पिताजी से कह चुका था, उनके पास लाया था और उनसे प्रार्थना कर रहा था कि वह उसे अपने पास रखें और अपने बच्चों के साथ शिक्षा दें। उसके बाद से हमने अपने बीच उस चौड़े मुंहवाली बालिका ड्यूनेश्का और उसकी धाय-मां एक्प्रेक्शीया को देखा। धाया लंबे कद की एक बूढ़ी औरत थी। उसके मुंह पर झुर्रियां पड़ी हुई थीं और तुर्की मुर्गे की-सी उसकी ठुड्डी पर एक गांठ थी, जिसे हम घूरकर देखा करते थे।

ड्यूनेश्का का हमारे घर आना पिताजी और टेमीअशोव में एक जटिल लेन-देन के फलस्वरूप हुआ था।

टेमीअशोव बहुत धनी आदमी था; लेकिन उसके कोई जायज संतान न थी। हां, दो लड़कियां थीं; एक तो ड्यूनेश्का और दूसरी कुबड़ी वेरोश्का, जिसकी मां मरफुसा एक दासी की लड़की थी। टेमीअशोव की उत्तराधिकारिणी उसकी दो बहनें थीं। वह उनके लिए अपने सारी शेष संपत्ति छोड़ रहा था; लेकिन पीरोगोव की जागीर, जहां वह रहता था;

पिताजी को इस शर्त पर देना चाहता था कि पिताजी उस जागीर का मूल्य तीन लाख रूबल उन दोनों लर्डाकियों को दे दें। (पीरोगोव जागीर के संबंध में यह कहा जाता था कि इसका मूल्य इससे कहीं ज्यादा है, क्योंकि उसमें सोने की खान है।) इसके लिए यह चाल चली गई कि टेमीअशोव पिताजी को रसीद देगा, जिसमें तीन लाख रूबल के लिए पीरोगोव जागीर मेरे पिता को बेची गई दिखाई जायेगी। मेरे पिता ने अपने हाथ से एक-एक लाख रूबल के तीन प्रोनोट लिखकर इस्लेनेव, याजीकोव और ग्लेबोवाको दिये। टेमीअशोव की मृत्यु होने पर पिताजी को वह जागीर मिलनी थी, जिसके बदले में इन्हें तीन लाख रूबल उन दोनों कन्याओं को देने थे। (इस्लेनेव, याजीकोव और ग्लेबोव को पहले ही बतला दिया था कि उन्हें उनके नाम से प्रोनोट क्यों दिये जा रहे हैं।)

शायद मैं सारी योजना को ठीक से नहीं बतला सका होऊं; लेकिन इतना मुझे निश्चित रूप से मालूम है कि मेरे पिता की मृत्यु के बाद वह जागीर हमें मिली। इस्लेनेव, ग्लेबोव और याजीकोव के पास तीन प्रोनोट निकले। जब हमारे संरक्षक ने उन प्रोनोटों का रुपया दिया तो इस्लेनेव और ग्लेबोव ने तो एक-एक लाख रूबल दे दिया; लेकिन याजीकोव सारा रुपया हड़प गया।

ड्यूनेश्का हमारे साथ रहती थी। वह सीधी-सादी और शांत लड़की थी; लेकिन वह चतुर लड़की नहीं थी और बहुत रोनेवाली थी। मुझे याद है कि उसे अक्षर-ज्ञान कराने का काम मुझे सौंपा गया था, क्योंकि मुझे उस वक्त तक फ्रेंच भाषा पढ़ना आ गया था। पहले तो सब ठीक-ठीक चलता रहा (मैं भी पांच साल का था और वह भी) परंतु बाद में वह संभवत: उकता उठी और जो शब्द में उसे बताता, उसका ठीक-ठीक उच्चारण नहीं करती। मैं उसे विवश करता। वह रोने लगती और उसके साथ-साथ मैं भी रोने लगता और जिस समय घर के लोग हमें लेने आते, उस समय हमारी आंखों में इतने आंसू भरे होते कि हम एक भी शब्द नहीं बोल पाते थे।

उसके बारे में दूसरी बात मुझे यह याद है कि जब कभी रकाबी में से एक बेर गायब हो जाता और उसके चुरानेवाले का पता न चलता तो फीडर इवानोविच बड़ी गंभीर मुद्रा बनाकर और हमारी ओर दृष्टिपात न करते हुए कहता कि बेर खाने में तो कोई हर्ज नहीं; लेकिन अगर कोई उसकी गुठली भी निगल गया तो उसकी मृत्यु हो सकती है। बस ड्यूनेश्का तुरंत भयभीत होकर बोल उठती कि नहीं, उसने गुठली उगल दी है। एक बार उसके फूट-फूटकर रोने की अच्छी तरह याद है। मेरा भाई मिटेंका डिमिट्री और वह दोनों एक-दूसरे के मुंह में एक पीतल की जंजीर उगलने का खेल खेल रहे थे। खेलते-खेलते उसने उस जंजीर को इतने जोर से उगला और मेरे भाई ने अपना मुंह इतना अधिक खोल दिया कि जंजीर उसके गले से नीचे उतरकर पेट में चली गई। उस समय वह नौ-नौ आंसू रोई और उस समय तक रोती रही जब तक डॉक्टर आकर हम सबको शांति नहीं दिलाई।

वह चतुर लड़की नहीं थी; लेकिन बड़ी सीधी-सादी और अच्छी लड़की थी और सबसे बड़ी बात तो यह कि वह अत्यंत पवित्र मन की थी और हमारे बीच सदा भाई-बहन का संबंध रहा।

× × ×

(अपने नौकरों के संबंध में टॉल्सटॉय ने लिखा है :)

प्रास्कोव्या ईसेव्ना का काफी ठीक-ठीक वर्णन मैंने बचपन में नटाल्या सेविश्ना के नाम से किया है। उसके विषय में मैंने जो कुछ लिखा है, वह उसके जीवन से लेकर ही लिखा है। प्रास्कोव्या ईसेव्ना का सब आदर करते थे। वह घर का प्रबंध करती थी और हम बच्चों का संदूक उसी के छोटे कमरे में रहता था। उनके संबंध में मुझे सबसे सुखद स्मृति यह है कि उसके छोटे से कमरे में बैठे हुए हम पढ़ाई के बाद अथवा बीच में ही उससे बात करने लगते थे अथवा उसकी बातें सुना करते थे। शायद वह हमारी उस आनंदमय सुकुमार और विकासशील अवस्था में, हमें देखकर प्रसन्न होती थी। "प्रासकोव्या ईसेव्ना, दादा लड़ाई में किस प्रकार जाते हैं

क्या घोड़े पर?" इस प्रकार उससे बात छेड़ने के लिए कोई उससये पूछ बैठता।

"वह घोड़े की पीठ पर पैदल सब तरह लड़ाई में लड़े; तभी तो वह प्रधान सेनापति बना दिये गये" वह जवाब देती और साथ ही अल्मारी में से थोड़ी-सी धूप, जिसे वह ओशेकोव की धूप कहती, निकाल लेती। उसके कहने से यही मालूम होता था कि हमारे दादा वह धूप ओशेकोव के घेरे से लाये थे। वह देवी मूर्ति के सामने जलती हुई मोमबत्ती से कागज जलाती और उससे धूप को भी जला देती, जिससे बड़ी सुन्दर सुगंध निकलती थी।

एक गीले तौलिये से मुझे पीटकर मेरा अपमान करने के अलावा (जैसा कि मैंने 'बचपन' में वर्णन किया है) उसने एक बार और मुझे गुस्सा किया था। और कामों के साथ उसका एक काम यह भी था कि जब आवश्यकता पड़े हमारे एनीमा लगाये। बात उस समय की है जब मैंने स्त्रियों के कमरे में रहना छोड़ दिया था और नीचे की मंजिल में थियोडोर ईवानोविच के पास आ गया था। एक दिन सबेरे हम सब बस सोकर उठे ही थे और मेरे बड़े भाइयों ने कपड़े भी पहन लिये थे। मैं जरा पीछे पड़ गया था। मैं अपने सीने के कपड़े उतारकर पहनने ही वाला था कि आस्कोव्या ईसेव्ना जल्दी-जल्दी पैर उठाकर चलती हुई अपना सारा सामान लेकर आ गई। सामान में एक रबड़ की नली थी जो किसी कारण कपड़े में लिपटी हुई थी; और उसकी केवल हड्डी की पीली टोटी ही दिखाई पड़ती थी और जैतून के तेल से भरी हुई एक रकावी थी। इस रकावी में नली का मुंह डूबा हुआ था। मुझे देखकर वह यह समझी कि मैं भी उन बच्चों में हूं, जिन्हें बुआ ने एनीमा देने को कहा है। वास्तव में वह मेरे भाई को लगाना था; लेकिन मेरा भाई संयोग से अथवा छल से अचानक यह बात पहले से ही भांप गया। वस्तुत: हम सभी बच्चे प्रास्कोव्या से ऐनीमा लगवाने से बहुत घबराते थे। अत: मेरा भाई शीघ्र ही कपड़े पहनकर सोने के कमरे के बाहर चला गया था; और मेरे शपथपूर्वक यह

समान भिन्न-भिन्न प्रकार के कपड़े पहनकर बड़े कमरे में इकट्ठे होते और बहुत से खेल खेला करते थे। ग्रेगोरी, जो सिर्फ ऐसे ही मौकों पर हमारे यहां आया करता था, बाजा बजाता और सब लोग नाचते थे। इससे हमारा बड़ा मनोविनोद होता था, कपड़े वे ही पिछले सालों के होते थे। कोई भेड़िया बनता, कोई मदारी। कोई बकरी का रूप धारण करता। कुछ तुर्की आदमी औरतों का बाना पहने, कुछ डाक और किसान स्त्री-पुरुषों के भेष धरते थे। मुझे याद कि इन विचित्र पोषाकों में कुछ लोग बहुत सुन्दर लगते थे। विशेषकर तुर्की लड़की माशा तो बहुत अच्छी लगती थी। कभी-कभी बुआ हमें भी ऐसे ही कपड़े पहना देती थीं। जवाहरात लगी हुई पेटी और सोने-चांदी के काम का एक जाल पहनने के लिए सभी उत्सुक रहते थे। मैं भी अपने होठों पर कोयला से काली-काली मूछे बनाकर अपने को बड़ा स्वरूपवान समझने लगता था। मैं शीशे में अपना मुंहा, काली-काली मूंछें और भौंहें देखता और यद्यपि मुझे चाहिए था कि मैं एक तुर्की की भांति गंभीर मुद्रा बना लूं; लेकिन मैं खुशी से अपनी मुस्कराहट नहीं रोक पाता था। बहुरूपिये सभी कमरों में जाते और वहां उन्हें सुस्वादु भोजन खाने को मिलता था।

एक बार जब मैं बहुत छोटा था, बड़े दिन की छुट्टियों में इस्लेनेव परिवार के सब लोग—इस्लेनेव (मेरी पत्नी के दादा), उनमें तीन लड़के और तीनों लड़कियां स्वांग भरकर हमारे यहां आये। उन्होंने आश्चर्यजनक भेष बना रखे थे। उनमें एक श्रृंगारदान बना हुआ था; दूसरा जूता, तीसरा विदूषक और चौथा कुछ और बना था। वे तीस मील चलकर गांव में आये और वहां उन्होंने अपना-अपना स्वांग बनाया और फिर हमारे बड़े कमरे में आये। इस्लेनेव पियानो बजाने बैठ गये और अपने बनाये हुए गाने बड़े लय से गाने लगे, जो मुझे अब भी याद हैं।

उनकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—

नये वर्ष में नाच रंग कर, हम अभिवादन करने आये।
सुख पायेंगे, यदि तुम सबका, हम कुछ भी मन बहला पाये।

ये सब बातें बड़ी आश्चर्यजनक थीं और शायद बड़े लोग इनसे बहुत प्रसन्न भी होते थे; लेकिन हम बच्चों को तो घर के दासों के स्वांग में ही आनन्द आता था।

ये सब उत्सव बड़े दिन से आरंभ होकर नये साल में जाकर समाप्त होते थे; लेकिन कभी-कभी वे 12वें दिन की रात तक चलते थे। पर नये साल के बाद थोड़े आदमी आते थे और उत्सव फीके पड़ जाते थे। इसी दिन वेसिली स्कारवाचेव्का के लिए रवाना हुआ। मुझे याद है कि हम लोग अपने बड़े कमरे के धुंधले प्रकाश में चमड़े की गद्दियोंदार कुर्सियों पर एक कोने में घेरा-सा बनाकर बैठे हुए 'छोटे रूबल, जाओ' खेल खेल रहे थे। हम लोग एक-दूसरे को रूबल देते जाते थे और गाते जाते थे— 'छोटे रूबल जाओ—छोटे रूबल जाओ।' फिर हममें से एक लड़का उस रूबल को ढूंढ़ने जाता। मुझे याद है कि एक दास-पुत्री इन पंक्तियों को बड़े ही सुन्दर और मधुर स्वर से गा रही थी। इसी समय एकाएक दरवाजा खुला और वेसिली आया। वह अपने सब कपड़े-लत्ते पहने हुए था। उसके हाथ में थाल-वाल भी नहीं था। वह कमरों में से होता हुआ पढ़ने के कमरे में चला गया। उसी समय मालूम हुआ कि वह कारिंदा बनकर स्कारवाचेव्का जा रहा है। मुझे इस बात से खुशी हुई कि उसकी तरक्की हो गई है। लेकिन साथ ही मुझे दु:ख भी हुआ कि वह अब यहां नहीं आवेगा और हमें बिठा-बिठाकर ऊपर रसोई-घर में नहीं ले जायेगा। वास्तव में उस समय न तो मैं यह समझ सका, न यह विश्वास ही कर सका कि इतना बड़ा परिवर्तन संभव हो सकता है। मैं बहुत अधिक उदास हो गया और 'छोटे रूबल, जाओ' पद हृदय को सालने लगा और जब बेसिली हमारी बुआओं को प्रणाम कर लौटा और अपनी मृदुल मुस्कराहट के साथ हमारे पास आकर हमारे कंधों को चुम्मा लेने लगा, उस समय जीवन में पहली बार मुझे इस जीवन की अस्थिरता पर भय लगा और प्रिय वेसिली के प्रति करुणा और प्रेम उमड़ पड़ा।

लेकिन बाद में जब मैं दुबारा वेसिली से अपने भाई के कारिंदे के

रूप में मिला, तब पहले की भ्रातृ-भाव की वह पवित्र और मानवी भावना मुझमें नहीं रही थी।

(टॉल्सस्टॉय के तीन बड़े भाई थे। उनमें बड़े निकोलस थे, जिनको घर में निकोलें का कहकर पुकारते थे और टॉल्स्टॉय सबसे अधिक प्रेम और सम्मान करते थे। इनका टॉल्स्टॉय के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके विषय में टॉल्स्टॉय लिखते हैं :)

वह बाल्यकाल में बड़े तेज और प्रतिभाशाली थे और बड़े होने पर उनकी प्रतिभा और भी विकसित हुई। तुर्गनेव उनके विषय में ठीक ही कहते थे कि उनमें ऐसी कोई कमी नहीं है जो एक अच्छा लेखक बनने के लिए जरूरी है। उनमें एक अच्छे लेखक के कई गुण थे। उनमें कला की भावना बड़ी तेज थी। क्या बात किस प्रकार स्थान पर लिखी जानी चाहिए, यह भी वह अच्छी तरह जानते थे। उनका व्यंग्य भी बहुत प्रसन्न करनेवाला और अच्छा होता था। उनकी कल्पना तेज और अनंत थी। वह जीवन का उच्च आदर्श रखते थे। इन सबके अतिरिक्त एक विशेष गुण यह था कि उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था। उनकी कल्पना इतनी तेज थी कि वह घंटों परियों या भूतों की कहानियां अथवा श्रीमती रेडीक्लिफ के ढंग की अन्य मनोरंजक कहानियां बिना रुके हुए सुना सकते थे और उन कहानियों में इतनी सजीवता और स्वाधीनता होती थी कि उनको सुनते समय आदमी यह भूल जाता था कि वे सच्ची नहीं हैं बल्कि काल्पनिक हैं। जिस समय यह कहानी सुना या पढ़ रहे न होते (वह पढ़ते बहुत थे) उस समय चित्र बनाया करते थे। सींग और चढ़ी मूंछों सहित शैतान के चित्र बहुत तरह के और बहुत से काम करते हुए बनाते थे। ये चित्र भी एकदम काल्पनिक होते थे।

जिस समय मेरे भाई डिमिट्री 6 साल के और सर्जी 7 वर्ष के थे, उस समय निकोलस ने ही सबसे यह कहा था कि उन्हें एक ऐसा मंत्र मालूम है, जिसे यदि बता दिया जाय तो संसार में कोई भी दुःखी न रहे, कोई बीमार न हो, किसी को कोई कष्ट न हो, कोई आदमी किसी से नाराज न

हो, सब एक-दूसरे से प्रेम करें और परस्पर धर्म-भाई बन जायें। यही नहीं हमने तो धर्म-भाई का एक खेल खेलना भी आरंभ किया, जिसमें हम सब कुर्सियों के नीचे बैठ जाते और दुशालों का पर्दा डालकर अपने को छिपा लेते, एक सिरे से सटकर और लिपटकर बैठ जाते अथवा अंधेरे में एक-दूसरे के पैरों पर पड़ जाते।

हमें यह धर्म-भ्रातृत्व तो बतला दिया गया; किन्तु असली मंत्र नहीं बतलाया गया जिससे कि हर एक मनुष्य की पीड़ाएं और दु:ख मिट जाते और वे एक-दूसरे से लड़ना-झगड़ना और गुस्सा होना बंद कर देते और अनंत आनंद अनुभव करते। उन्होंने कहा कि मैंने वह मंत्र एक हरी लकड़ी पर लिखकर उसे एक खड्डे के किनारे एक सड़क के पास गाड़ दिया है। और चूंकि मृत्यु के बाद मुझे तो कहीं-न-कहीं दफनाया ही जाता, अत: मैंने वह इच्छा प्रकट की कि मेरी मृत्यु के बाद मुझे निकोलेका की स्मृति में उसी स्थान पर, जहां कि वह लकड़ी गाड़ी गई थी, दफनाया जाय। उस लकड़ी के अतिरिक्त वह हमें फेनकेरोनीव पहाड़ी पर भी ले जाने के लिए कहते थे; परंतु इस शर्त पर कि हम एक कोने पर एक खड़े हों और सफेद रीछ का विचार भी मन में न आने दें। मुझे याद है कि मैं अधिकतर एक कोने में खड़ा रहता और इस बात का प्रयत्न करता कि मुझे सफेद रीछ का ध्यान न आए; परंतु उसका ध्यान आये बिना न रहता। दूसरी शर्त यह थी कि फर्श पर रखे तख्तों की दारार पर बिना थर्राये या बिना कांपे चलना पड़ेगा। तीसरी शर्त यह थी कि एक साल तक जीवित या मृत या पका हुआ खरगोश न देखो। इसके साथ-साथ यह भी शपथ लेनी पड़ती थी कि हम यह भेद किसी को न बतलायंगे। जो कोई भी आदमी निकोलस की इन शर्तों को तथा इनके अतिरिक्त उन शर्तों को, जो बाद में वह बतावें, पालन करे, तो उसकी एक इच्छा, चाहे वह कुछ भी हो, अवश्य पूर्ण हो जायेगी।

(अपने अन्य भाइयों के विषय में टॉल्सटॉय लिखते हैं:)

डिमट्री मेरे साथी थे। निकोलस का तो मैं सम्मान करता था; परंतु

सर्जी को देखकर मेरा रोम-रोम प्रफुल्लित हो उठता था। मैं उनका अनुसरण करता, उनसे प्रेम करता और यही कामना किया करता था कि मैं बिल्कुल उन-जैसा हो जाऊं। उनकी सुन्दरता, मधुर स्वर (वह सदा गाते रहते थे), उनकी चित्रकला, उनकी चलपता, प्रफुल्लता और विशेषकर उनके स्वाभाविक आत्माभिमान को देखकर मैं आनंद से फूल उठता था। मुझे अपना बड़ा खयाल रहता था और मैं सदा इस बात को, चाहे इसमें मेरी गलती हो या न हो; ध्यान रखता था कि दूसरे लोग मेरे विषय में क्या खयाल रखते हैं। इसी कारण मेरे जीवन का आनंद मिट जाता था और संभवतः इसीलिए मैं दूसरे आदमियों में इससे विपरीत गुण अर्थात् स्वाभाविक आत्मश्लाघा देखना पसंद करता था। इसीलिए मैं सर्जी से प्रेम केरता था। लेकिन उस भावना को बतलाने के लिए 'प्रेम' बिल्कुल ठीक शब्द नहीं है। मैं निकोलस से प्रेम करता था; लेकिन सर्जी को देखकर तो मैं अपने को भूलँ-सा जाता था, मानो मैं अपने से कोई भिन्न और अबूझ वस्तु पाकर मंत्र-मुग्ध हो गया हूं। उसका जीवन वास्तव में मनुष्य का जीवन था—वह सुन्दर परंतु मेरे लिए अगम्य, रहस्यपूर्ण और इसी कारण बहुत आकर्षक था।

अभी थोड़े दिन हुए[1] उनकी मृत्यु हो गई। अपनी आखिरी बीमारी में और अपनी मृत्यु-शय्यापर भी वह मेरे लिए उतने ही गहन, अगाध और प्रिय थे जैसे कि बचपन के दिनों में। बाद में बुढ़ापे में वह मुझे ज्यादा प्यार करने लगे थे, अपने प्रति मेरे प्रेम का आदर करते थे, मुझे ज्यादा प्यार करने लगे थे, मुझ पर अभिमान करते थे और विवादास्पद विषयों में मेरे मत से सहमत होने का प्रयत्न करते; लेकिन हो नहीं सकते थे। वह जैसे थे अब तक वैसे ही रहे। वह अद्वितीय, विलक्षण, सुन्दर, कुलीन, आत्माभिमानी और इन सबसे अधिक इतने सच्चे और शुद्ध हृदय के व्यक्ति थे कि मैंने आज तक वैसा दूसरा व्यक्ति नहीं देखा। वह जैसे अंतर

---

1. अगस्त, 1904 में।—

से थे वैसे ही बाहर से थे। वह कोई बात छिपाते नहीं थे और जो थे उससे बढ़कर किसी के सामने अपने को प्रकट न करते थे।

निकोलस के साथ तो मैं रहना, बातें करना और विचार-विनिमय करना पसंद करता था। सर्जी का मैं पदानुसरण करना चाहता था। उनका अनुसरण करना मैंने बहुत बचपन से आरंभ कर दिया था। वह मुर्गियां पालते थे, अतः मैंने भी मुर्गियां रखनी आरंभ कर दीं। पशु-पक्षियों के जीवन का अध्ययन करने का वह मेरा पहला अवसर था। मुझे मुर्गियों की बहुत-सी जातियां, भूरी, चितकबरी और कलंगीवाली, अब भी याद हैं। मुझे याद है कि किस प्रकार हमारे बुलाने पर वह दौड़कर आतीं, किस प्रकार हम उन्हें दाना डालते और हम उस डच मुर्गे से, जो उनके साथ दुर्व्यवहार करता था, कितनी घृणा करते थे। सर्जी ने पहले-पहल मुर्गियों के बच्चे मंगाये और उन्हें पालना शुरू किया। मैंने तो केवल उनकी नकल करने के लिए पाला था। सर्जी के कागज पर मुर्गे-मुर्गियों के चित्र बनाते और उनमें बड़े सुन्दर रंग भरते। वे मुझे बड़े आश्चर्यजनक लगते थे। मैं भी यही करता था; लेकिन मेरे चित्र बड़े भद्दे होते थे। (फिर भी मैं इस कला में लंबी-चौड़ी बातें बनाकर ही अभ्यस्त होने की आशा करता था)। जब सर्दियों के दिनों में खिड़कियों में दोहरे किवाड़ लगा दिये गए, तब सर्जी ने मुर्गियों को खाना देने का एक नया उपाज खोज निकाला। वह किवाड़ों की चाबियों के छेद में से सफेद और काली रोटी के लंबे-लंबे टुकड़े बनाकर उन्हें दिया करते। मैं भी यही करता था।

मेरे बाल-मस्तिष्क पर एक मामूली-सी घटना ने बड़ा प्रभाव डाला। मुझे वह घटना इतनी अच्छी तरह याद है, मानो वह अभी घटी हो। टेमीअशोव हम बच्चों के कमरे में बैठा हुआ फीडर इवानोविच के साथ बातचीत कर रहा था। न जाने कैसे उपवास की बात चल पड़ी और अच्छे स्वभाववाले टेमीअशोव ने सीधे-सादे भाव से कहा—"मेरे पास एक रसोइया था; जो व्रत के दिन भी मांस खाता था। मैंने उसे फौज में भेज दिया।" मुझे यह घटना अब भी इसलिए याद है कि उस समय मुझे यह

बात एकदम अजीब-सी मालूम पड़ी और मेरी समझ में ज़रा भी नहीं आई।

एक घटना और है और वह पेरोवस्को की जागीर के[1] उत्तराधिकारी के संबंध में थी। पेरोवस्को की जागीर का एक भूतपूर्व दास इल्या मेट्रोफेनिच था। वह एक लंबा तथा बूढ़ा आदमी था। उसके बाल सफेद हो गये थे। वह पक्का शराबी और अपने समय के सारे हथकंडों में उस्ताद था। उसकी सहायता से इस जागीर के उत्तराधिकारियों के संबंध में जो मुकदमा चला था वह जीत लिया गया और नेरुच से भरी हुई गाड़ियों एवं घोड़ों के झुण्ड-के-झुण्ड आये, जिनकी मुझे अब भी याद है। इल्या ने इस जागीर को दिलाने में बहुत काम किया था, अतः उसके उपलक्ष में मृत्यु-पर्यंत यास्नाया पोल्याना में रहने का उसका प्रबंध कर दिया गया।

मेरे बहनोई बेलेरियन के चाचा प्रसिद्ध 'अमरीकन' थियोडोर टॉल्स्टॉय हमारे यहां आये थे, इसकी मुझे अच्छी तरह याद है। वे एक घोड़ागाड़ी में बैठकर आये थे। वे सीधे पिताजी के पढ़ने के कमरे में पहुंचे और बोले, मेरे लिए खास तरह की सूखी फ्रांसीसी रोटी मंगाइये। वह उसे छोड़कर दूसरी रोटी खाते ही न थे। मेरी भाई सर्जी के दांतों में बड़ा जोर का दर्द हो रहा था। थियोडोर पूछा कि सर्जी को क्या हुआ? और जब उन्हें मालूम हुआ कि उसके दांतों में दर्द हो रहा है, तब उन्होंने कहा, अच्छा मैं अभी जादू से इसे बंद किये देता हूं। वह पिताजी के पढ़ने के कमरे में गये और भीतर से दरवाजा बंद कर लिया। थोड़ी देर बाद वह मलमल के दो रूमाल, जिनके किनारे पर कुछ फूल-पत्तियां कढ़ी हुई थीं। हाथ में लेकर आये। उन्होंने दोनों रूमाल हमारी बुआ को देते हुए कहा—"यह रूमाल बांधते ही दर्द मिट जायेगा। और यह रूमाल लगते ही उसे नींद आ जायेगी।" बुआ ने वे रूमाल ले लिये और उन्हें उसी प्रकार रख दिया।

1. इस जागीर में कुर्स्क प्रांत के सकारवाचेष्का ओर नेरुच नामक दो जागीरें थीं।

हमारे मन में यही खयाल बना रहा कि उन्होंने जैसा कहा था वैसा ही हुआ।

उनका हजामत बना हुआ कठोर, रूक्ष और दमकता हुआ सुन्दर मुख मुंह से कानों तक कटी हुई कलम और घुंघराले बाल मुझे बहुत अच्छे लगते थे। इस असाधारण, अपराधी और आकर्षक व्यक्ति के संबंध में बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जिन्हें मैं कहना पसंद न करूंगा।

राजकुमार वोल्कोंस्की के भी अपने यहां आने की मुझे याद है। वह माता जी के कोई मौसेरे या फुफेरे भाई थे। वह मेरा दुलार करना चाहते थे। उन्होंने मुझे अपने घुटने पर बिठा लिया और जैसा कि बहुधा होता है, मुझे गोदी में बिठाये-बिठाये घर के आदमियों से बातें करने में मग्न रहे। मैं उनकी गोद से उठने का प्रयत्न करता तो वह मुझे और कसकर थाम लेते। कुछ मिनटों तक यही चलता रहा; लेकिन इस तरह कैद हो जाने, आजादी छिन जाने और ऊपर से बल-प्रयोग से मैं इतना उकता उठा और मुझे इतना क्रोध आया कि मैं एकाएक जोरों से उनके चुंगल से छूटने की कोशिश करने, चिल्लाने और उन्हें मारने भी लगा।

यास्नाया पोल्याना से दो मील दूर एक गांव ग्रुमंड है (उसका यह नाम मेरे दादा ने रखा था, वह अर्केजल के, जहां पर ग्रुमंड नाम का एक टापू था, गवर्नर रह चुके थे।) (ग्रुमंड के संबंध में टॉल्सटॉय लिखते हैं कि वहां पर पशुओं के लिए एक सुन्दर बाड़ा और जब-तब रहने के लिए एक बहुत सुन्दर छोटा-सा मकान बना हुआ था। टॉल्स्टॉय-परिवार के बच्चों को यहां दिन बिताना बहुत अच्छा लगता था; क्योंकि यहां पर पानी का एक बड़ा सुन्दर सोता और मछलियों से भरी हुई एक छोटी-सी तलैया थी। वह आगे लिखते हैं :)

"लेकिन एक बार एक घटना से, जिसके कारण हम सभी—कम-से-कम मैं और डिमिट्री—करुणार्द्र हो रो पड़े और हमारा सारा आनंद जाता रहा। बात यह हुई कि हम सब अपनी गाड़ी में बैठ घर लौट रहे थे। फीडर इवानोविच की भूरे रंग, सुन्दर आंखों और नरम घुंघराले बालवाली

शिकारी कुतिया बर्था, हमारी गाड़ी के आगे-पीछे भाग रही थी। जैसे ही हम ग्रुमंड बाग से आगे बढ़े, एक किसान के कुत्ते ने उस पर हमला किया। बर्था गाड़ी की ओर भागी। फीडर इवानोविच गबाड़ी न रोक सके और वह उसके एक पंजे पर से निकल गई। जब हम घर आये और बर्था भी हमारे पीछे-पीछे तीन पैरों से लंगड़ाती-लंगडाती आई तो फीडर इवानोविच और हमारे खिदमतगार निकिटा डिमिट्री ने, जो एक शिकारी भी था उसका पैर देखकर कहा कि उसका पैर टूट गया है और अब यह आगे कभी शिकार के काम नहीं आ सकती। मैं ऊपर अपने छोट कमरे में उनकी बातें सुन रहा था। जिस समय फीडर इवानोविच ने यह कहा कि "अब यह किसी काम की नहीं रही; इसका तो एकमात्र उपाय यही है कि इसे मार दिया जाये" तो मैं अपने कानों पर विश्वास नहीं कर सका।

बेचारी कुतिया कष्ट में थी, बीमार थी और इसके लिए उसे मौत के घाट उतारा जा रहा था। मेरे मन में यह भावना उठी कि नहीं, यह बात गलत है, ऐसा नहीं होना चाहिए। परंतु फीडर इवानोविच ने जिस ढंग से यह बात कही और निकिटा डिमिट्री ने जिस ढंग से उसका समर्थन किया उससे मालूम होता था कि वे अपना निर्णय पूरा करने पर तुले हुए हैं और जैसे कि कुजमा[1] के कोड़े लगाने के लिए ले जाते समय तथा टेमीअशोव

---

1. इस घटना के विषय में टॉल्स्टॉय लिखते हैं—

हम सब बच्चे घूमकर अपने शिक्षक फीडर इवानोविच के साथ वापस लौट रहे थे। उसी समय खलिहान के पास हमें हमारा मोटा कोचवान ऐंड्रू मिला। उसके साथ हमारा सहायक कोचवान कुजमा भी था, जिसकी आंखें भेड़-सी थीं और इसी कारण वह भेड़ा कुजमा कहलाता था। कुजमा बहुत उदास था। उसका विवाह हो चुका था और उसकी जवाबी भी ढल चुकी थी : हममें से एक ने ऐंड्रू से पूछा कि कहां जा रहा है। उसने शान्ति से उत्तर दिया कि वह कुजमा को खलिहान पर कोड़े लगाने के लिए ले जा रहा है। मुंह लटकाये हुए कुजमा की मूर्ति और इन शब्दों ने मेरे मन में जो

ने जब बतलाया था कि किस प्रकार उसने अपने रसोइया को व्रत के दिन मांस खाने पर फौज में भेज दिया था, उस समय मैंने अनुभव किया था कि यह गलत था; परंतु अपने से बड़े लोगों के प्रति आदर की भावना के कारण मुझे उनके हर निश्चय के सामने अपनी भावना पर विश्वास करने की हिम्मत नहीं पड़ी, वैसे ही इस बार भी नहीं पड़ी।

मैं अपने बाल्य-काल की सभी सुखद स्मृतियों का वर्णन नहीं करूंगा; क्योंकि उसका अंत नहीं है और दूसरे वे मुझे प्रिय और महत्त्वपूर्ण लगती हैं; पर मैं उन्हें अन्य लोगों के सामने महत्त्वपूर्ण नहीं सिद्ध कर सकता।

मैं अपने बाल्य-जीवन के एक आध्यात्मिक अनुभव के विषय में कुछ कहूंगा। यह अनुभव मेरे बचपन में मुझे अनेक बार हुआ और मैं समझता हूं कि वह बाद के बहुत से अनुभवों से कहीं बढ़कर है। वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि वह प्रेम का पहला अनुभव था, किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम नहीं, बल्कि प्रेम के प्रति प्रेम, ईश्वर के प्रति प्रेम—इस प्रेम का अनुभव बाद के जीवन में यदा-कदा ही होता था; लेकिन होता अवश्य था और शायद इस कारण होता था (इसके लिए ईश्वर का धन्यवाद है) कि उसका बीज बचपन में ही बो गया था। इसका अनुभव इस प्रकार होता था। हम, विशेषकर मैं, डिमिट्री और लड़कियां कुर्सियों के नीचे यथा-

---

भय पैदा कर दिया, उसका वर्णन नहीं कर सकता। शाम को मैंने यह बात अपनी बुआ टाशियाना ऐलेक्जेंड्रोव्ना से कही। उन्हें शारीरिक दंड देने से बड़ी घृणा थी और जहां कहीं उनका बस चलता, वह कभी दासों को या हमको शारीरिक दंड न देती थीं। मेरे कहने पर उनको बहुत बुरा लगा और उन्होंने कहा, "तून उसे रोका क्यों नहीं?" उसके इन शब्दों से मुझे और भी दु:ख हुआ।...मैंने कभी यह सोचा ही नहीं था कि हम ऐसे मामलों में पड़ सकते हैं। पर वास्तव में हम ऐसे मामलों में बोल सकते थे; परन्तु अब तो बात हाथ से निकल चुकी थी और वह भयानक कांड किया जा चुका था।

संभव एक-दूसरे से सटकर बैठ जाते। इन कुर्सियों के चारों ओर शाल लपेट दिया जाता और ऊपर गद्दियां ढक दी जातीं। हम एक-दूसरे से कहते कि हम सब भाई-बहन हैं और उस समय एक-दूसरे के प्रति एक विचित्र प्रेम-भाव का अनुभव करते। कभी यह प्रेम-भावना बढ़कर लाड़-दुलार तक पहुंच जाता और हम एक-दूसरे को थपथपाने लगते थे। या आलिंगन करते; पर ऐसा बहुत कम होता था और हम सब अनुभव करते थे कि ऐसा उचित नहीं है और अपने को रोक लेते थे।

कभी-कभी हम उन कुर्सियों के नीचे बैठे-बैठे ही बातचीत किया करते थे कि हम किस-किस से कितना प्रेम करते हैं, सुखी और प्रसन्न जीवन बिताने के लिए किन-किन बातों को आवश्यकता है; हमें किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना और किस प्रकार सबके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए।,

मुझे याद है कि इसका आरम्भ एक यात्रा के खेल से होता था। हम लोग कुर्सियों पर बैठ जाते और अन्य कुर्सियों को खींचकर एक गाड़ी बनाते। हम सब लोग बैठकर यात्री का खेल खेलते और फिर धर्म-भाई का खेल खेलने लगते। इसमें हमारे साथ और लोग भी शामिल हो जाते! यह खेल बहुत ही अच्छा था और ईश्वर को धन्यवाद है कि हम यह खेल खेलते थे। हम इसे खेल कहते थे, लेकिन वास्तव में इसे छोड़कर संसार की प्रत्येक बात एक खेल ही है।

(जर्मन भाषा में टॉलस्टॉय की जीवनी के लेखक लौवेनफेल्ड के यह पूछने पर कि यह कैसे हुआ कि आपको ज्ञानार्जन की इतनी पिपासा थी, फिर भी आपने उपाधि लेने से पहले ही विश्वविद्यालय छोड़ दिया, टॉल्स्टॉय ने लिखा है :)

'हां, मेरी ज्ञानपिपासा ही मेरे यूनिवर्सिटी छोड़ने का कारण थी : कजान में हमारे शिक्षक जिन विषयों पर जो-जो व्याख्यान देते थे, वे मुझे जरा भी रोचक नहीं लगते थे। पहले तो मैंने एक साल तक पूर्वी भाषाओं का अध्ययन किया, परंतु उसमें मैंने बहुत थोड़ी प्रगति की। मैं हर एक

चीज़ में जी-जान से लग पड़ता था और एक ही विषय पर एक साथ बहुतेरी पुस्तकें पढ़ डालता था। लेकिन एक साथ मैं एक ही विषय की पुस्तकें पढ़ता था। जब मैं एक विषय को उठाता तो फिर उसको बीच में छोड़ता न था और उस पर वे सब पुस्तकें पढ़ता था जो उस विषय पर प्रकाश डालती थीं। कजान में मेरा यही हाल था।"

(एक दूसरे अवसर पर टॉल्स्टॉय ने कहा :)

विश्वविद्यालय छोड़ने के विशेषकर दो कारण थे। पहला तो यह कि मेरे भाई सर्जी अपनी पढ़ाई समाप्त कर चुके थे और उन्होंने विद्यालय छोड़ दिया था। दूसरे केथोराइन की 'नकाज' और 'ऐस्प्रिट द लुईस' पर मैंने जो लिखा, उसने मेरे लिए मानसिक कार्य का नवीन क्षेत्र खोल दिया। विद्यालय के काम के कारण मुझे इसमें सहायता मिलनी तो दूर, मेरे काम में बाधा भी पड़ती थी।

मेरे भाई डिमिट्री मुझसे एक साल बड़े थे। उनकी आंखें बड़ी-बड़ी थीं और उनसे गंभीरता टपकती थी। मुझे यह तो याद नहीं कि बचपन में वह कैसे थे; लेकिन बाद में मैंने लोगों के मुंह से सुना कि बचपन में बड़े सनकी और अस्थिर थे। यदि उनकी धाय उनकी सार-संभाल ठीक से न करती तो वह इस पर उससे क्रोधित होते और चिल्लाते। मैंने यह भी सुना है कि माताजी उनसे बहुत परेशान थीं। यह आयु में लगभग मेरे बराबर ही थे और हम दोनों साथ-साथ बहुत खेले। यद्यपि मैं उनसे इतना प्रेम नहीं करता था जितना सर्जी से, न इतना आदर ही जितना कि मैं निकोलस का करता था; लेकिन फिर भी हम दोनों में मित्र भाव था और मुझे याद नहीं कि हम दोनों कभी लड़े हों। हो सकता है कि हम कभी लड़े भी हों; लेकिन उस लड़ाई की छाप हमारे दिलों में बिल्कुल न रही। मैं उनसे सरल और स्वाभाविक तौर पर प्रेम करता था, जिसका (प्रेम का) न तो मुझे ज्ञान था और न जिसकी अब स्मृति ही शेष है। मैं यह समझता हूं, और विशेषकर बचपन का यह मेरा अपना अनुभव भी है कि बाल्यकाल में दूसरों के प्रति प्रेम आत्मा की एक स्वाभाविक स्थिति है, या दूसरे शब्दों

में एक-दूसरे के बीच एक स्वाभाविक संबंध है, और जिस समय मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है उस समय उसे उस प्रेम का ज्ञान नहीं रहता। उसका ज्ञान तो तभी होता है जब मनुष्य प्रेम नहीं करता; 'प्रेम नहीं करता' नहीं, बल्कि जब वह किसी से डरने लगता है। (मैं भिखारियों या वोल्कोंस्की से, जो मुझे चुटकी लिया करता था, इसी प्रकार डरता था, लेकिन मैं समझता हूं कि इनके अतिरिक्त मैं किसी से नहीं डरता था), अथवा जब कोई आदमी किसी एक आदमी से ही विशेष प्रेम करने लगता है, जिस प्रकार कि मैं अपनी बुआ टाशियाना एलेक्जेंड्रवोना से या अपने भाई सर्जी और निकोलस से, वेसिली, धाय ईसेव्ना और पेशेंका से प्रेम करता था।

डिमिट्री के बचपन के संबंध में सिवाय इसके कि वह बड़े प्रसन्नचित्त रहते थे, मुझे कुछ भी याद नहीं। सन् 1840 में, जब उनकी आयु 13 वर्ष की थी, हम दोनों कजान विश्वविद्यालय में गये और उस समय मुझे उनकी विशेषताएं पहले-पहल मालूम हुईं और उनका मुझ पर प्रभाव पड़ा। उसके पहले मैं उनके विषय में केवल इतना जानता था कि वह उस प्रकार प्रेम में नहीं पड़ते जिस प्रकार मैं और सर्जी; और न नाच-रंग और सैनिक-प्रदर्शन ही पसंद करते थे। वह पढ़ते बहुत थे। पोलोंस्की नाम के एक अंडर-ग्रेजुएट शिक्षक हमें पढ़ाया करते थे। हम भाइयों के विषय में उन्होंने अपनी राय यों प्रकट की थी: सर्जी पढ़ना चाहता है और पढ़ भी सकता है; डिमिट्री चाहता तो है, लेकिन पढ़ नहीं सकता (लेकिन यह ठीक नहीं था) और लियो टॉल्स्टॉय न तो चाहता ही है और न पढ़ सकता है (हां, मेरे विषय में यह बिल्कुल ठीक था)

इस प्रकार डिमिट्री के विषय में मेरी स्मृति कजान से आरंभ होती है। वहां हर बात में सर्जी का अनुकरण करते-करते मैं बिगड़ने लगा। उस समय और उसके पहले भी मुझे अपने बनाव-सिंगार की चिंता रहने लगी। मैं चिकना-चुपड़ा दिखाई पड़ने का प्रयत्न करने लगा। डिमिट्री को यह बातें छू भी न गई थीं। मेरा तो खयाल है कि वह जवानी के अवगुणों से सदा दूर रहे। वह सदा गंभीर, विचारवान, शुद्ध और दृढ़ रहते थे,

यद्यपि उन्हें क्रोध जल्दी आ जाता था। वे जो काम करते थे उसे सारी शक्ति लगाकर करते थे। जब उन्होंने पीतल की जंजीर निगल ली थी, उस समय भी वह दिल न हार बैठे। जहां तक मुझे याद है, एक बार जब मैंने एक बेर की गुठली, जो मुझे 'बुआ' ने दी थी, निगल ली थी तो मुझे कितना डर लगा था, और मैंने किस गंभीरता से वह दुर्घटना अपनी माता से कही थी, मानो मैं मर ही रहा होऊं। एक बार हम सब बच्चे एक पहाड़ी पर से बर्फ पर फिसलने वाली कड़ी की चट्टियों पर फिसल रहे थे। इतने में एक आदमी स्लेज-गाड़ी में बैठा हुआ सड़क-सड़क जाने के बजाय पहाड़ी पर चढ़ आया। शायद सर्जी और एक ग्रामीण बालक उस समय फिसलकर नीचे आ रहे थे। वे अपने को रोक न सके और घोड़े के पैरों के पास जाकर गिर पड़े। उन्हें चोट नहीं लगी और स्लेज-गाड़ी पहाड़ी की ओर चली गई। हम सब तो यही देखने में दत्त-चित्त थे कि किस प्रकार वे घोड़े के पैरों के नीचे से बचकर निकले, किस प्रकार घोड़ा भड़ककर एक ओर को हटा, आदि-आदि। लेकिन डिमिट्री जिनकी आयु उस समय केवल 9 वर्ष की थी, उठकर सीधे उस आदमी के पास गये और उसे फटकारने लगे। उन्होंने उससे यह कहा कि ऐसी जगह गाड़ी चलने पर, जहां कि कोई सड़क नहीं है तुम अस्तबल में भेजे जाने योग्य हो, जिसका उस समय यह अर्थ था कि तुम्हारी पिटाई कोड़ों से होनी चाहिए तो मुझे कुछ आश्चर्य भी हुआ और कुछ बुरा भी लगा।

उनकी विशेषताएं तो पहले-पहल कजान में मालूम हुईं। वह जी लगाकर बहुत अच्छी तरह पढ़ते और बड़ी सुगमता से कविता भी कर लेते थे। उन्होंने शिलर की कविता 'डर जुंगलिंग एम बाशे' का बड़ा सुन्दर अनुवाद किया था। लेकिन कविता के धंधे में उन्होंने कभी अपने को नहीं लगाया। एक दिन वह बहुत ज्यादा मजाक करने लगे। इससे

---

1. लेकिन दूसरे स्थान पर टॉल्स्टॉय ने इससे बिल्कुल उलटी बात कही है और निकोलस को भी लपेट लिया है—सं०

लड़कियों का बड़ा मनोरंजन हुआ। इस पर मुझे उनसे ईर्ष्या हुई। मैंने सोचा कि लड़कियां इसलिए प्रसन्न हैं कि वह सदा गंभीर रहते हैं, और उसी तरह उनकी नकल में गंभीर बनने की मेरी भी इच्छा हुई। मेरी बुआ (पेलागेया इलीनिश्ना) को सनक हुई कि हमारी सेवा के लिए एक-एक दास बालक रखें, जो बाद में हमारा विश्वास-पात्र खिदमतगार हो सके। डिमिट्री के लिए उन्होंने एक दास वेनयूशा दिया जो अभी तक जीवित है। डिमिट्री उसके साथ बड़ा बुरा बर्ताव करते और मेरा खयाल है कि उसे पीटते तक थे। 'खयाल है', मैं इसलिए कहता हूं कि मैंने उन्हें कभी मारते-पीटते तो देखा नहीं; लेकिन मुझे याद है कि एक दिन वह वेनयूशा के सामने उसके प्रति किये गये व्यवहार के लिए पश्चात्ताप कर रहे थे और उससे नम्र शब्दों में क्षमा मांग रहे थे।

मुझे तो यह नहीं मालूम कि किस प्रकार या किसके प्रभाव से यह धार्मिक जीवन की ओर खिंचे; लेकिन उनका धार्मिक-जीवन विद्यालय में प्रविष्ट होने के पहले ही साल में आरम्भ हो गया। धार्मिक-जीवन की ओर प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावतः वह चर्च की ओर झुके और अपने स्वाभाविक अध्यवसाय के साथ धार्मिक साहित्य का अध्ययन करने लगे। वह बड़ा सादा भोजन करते, गिरजे में सभी प्रार्थनाओं और उपदेशों के समय जाते और अधिकाधिक कठोर जीवन बिताने लगे।

डिमिट्री में एक असाधारण गुण था और मुझे विश्वास है कि वह गुण मेरी माता और मेरे बड़े भाई निकोलस में भी था; लेकिन मुझमें बिल्कुल नहीं था। वे इस बात से पूर्णतया उदासीन रहते कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या खयाल करते हैं। बुढ़ापे तक में मुझे चिंता रहती है कि दूसरे लोग मेरे बारे में क्या खयाल करते हैं; लेकिन डिमिट्री इस चिंता से बिल्कुल मुक्त थे। जब कोई आदमी किसी की प्रशंसा करता है तो अनिच्छा होते हुए भी वह मुस्करा देता है। लेकिन मुझे याद नहीं कि मैंने कभी उनके मुख पर इस तरह की मुस्कराहट देखी हो। मुझे तो उनकी बड़ी-बड़ी शांत, गंभीर और विचारशील आंखें ही याद हैं। केवल कजान विद्यालय में रहने के

समय ही हमने उनकी ओर विशेष ध्यान देना आरम्भ किया और वह भी इसलिए कि उस समय तक हम बाहरी बनाव-संवार पर ज्यादा जोर देने लगे थे और वह, मैले-कुचैले और गंदे रहते थे और इस कारण हम सदा उनकी निंदा किया करते थे। वह न तो नाच देखने जाते और न नाच सीखना चाहते थे। एक विद्यार्थी के नाते वह अन्य विद्यार्थियों की गोष्ठी में भी जाते थे। केवल एक कोट पहनते और गले में पतला-सा तंग रूमाल बांधते थे। युवावस्था से ही उनकी मुंह बनाने की आदत पड़ गई थी। वह हर समय अपना सिर घुमाते रहते थे मानो तंग रूमाल से अपना पिंड छुड़ाने की कोशिश कर रहे हों।

जिस समय उन्होंने उपासना (कम्युनियन) के निमित्त पहला उपवास किया, उस समय उनकी विशेषताएं पहली बार मालूम हुईं। उन्होंने यह उपवास विश्वविद्यालय के फैशनेबुल गिर्जे में न करके जेल के गिर्जे में किया। उस समय जेल के ठीक सामने गोटालोव के मकान में रहते थे। इस गिर्जे में एक बड़े धार्मिक और कट्टर पादरी थे। यह एक असाधारण बात थी; क्योंकि उस समय पादरी न तो धर्मिष्ठ होते थे और न धर्माचरण के नियमों का कड़ाई के साथ पालन करते थे। यह पादरी महोदय धार्मिक सप्ताह में इंजील तथा ईसामसीह व उनके अनुयायियों के ग्रंथों का जिनको पढ़ने का यद्यपि शास्त्रों में विधान है; परंतु लोग जिन सब ग्रंथों को कम ही पढ़ते थे—आद्योपांत पाठ करते थे। इसी कारण इस गिर्जे के उपदेश बड़ी देर में समाप्त हुआ करते थे। डिमिट्री इन सब कथाओं और उपदेशों को खड़े होकर सुना करते थे। उन्होंने पादरी से भी जान-पहचान कर ली थी। गिर्जाघर इस प्रकार बना हुआ था गिर्जाघर और उस स्थान के बीच में जहां कैदी खड़े होकर उपदेश सुना करते थे एक शीशे की दीवार थी और उसमें एक छोटा-सा दरवाजा था। एक बार एक कैदी ने उस दरवाजे के भीतर से एक छोटे पादरी को कुछ देना चाहा। वह या तो मोमबत्ती थी या उसके लिए कुछ पैसे। कोई यह काम करने के लिए तैयार न हुआ; लेकिन डिमिट्री अपनी स्वाभाविक गंभीर मुद्रा के साथ उसे

उठा लिया और छोटे पादरी को दे दिया। यह काम ठीक नहीं था और इसके लिए उन्हें भला-बुरा भी कहा गया; लेकिन चूंकि वह समझते थे कि यह काम किया जाना चाहिए, अतः वह दूसरे अवसरों पर भी यह काम करते थे।

जब हम दूसरे मकान में चले गये तब की एक घटना मुझे याद है। हमारे ऊपर के कमरे दो हिस्सों में बंटे हुए थे। एक भाग में डिमिट्री रहते थे और दूसरे में सर्जी और मैं। बड़े आदमियों के समान सर्जी को और मुझे अपनी-अपनी मेजों पर आभूषण तथा अन्य चीजें, जो हमें भेंट में मिलती थीं, सजाकर रखने का शौक था। लेकिन डिमिट्री के पास ऐसी कोई चीज नहीं थी। उन्होंने पिताजी से केवल एक ही वस्तु ली थी और वह उनका रंग-बिरंगे पत्थरों का संग्रह था। उन्होंने उनको सजाकर और उन पर लेबिल लगाकर एक शीशे के ढक्कनवाले बक्स में रख छोड़ा था। चूंकि हम सब भाई और हमारी बुआ डिमिट्री की इन निम्न कोटिकी रुचियों और उनके निम्न श्रेणी के परिचितों के कारण उन्हें कुछ घृणा की दृष्टि से देखती थी, अतः हमारे दंभी मित्र भी उनके प्रति यही रुख रखते थे। उनमें से एक 'ऐस' था। वह एक इंजीनियर था और बड़ी क्षुद्र प्रकृति का था। उसे हमने मित्र नहीं बनाया था, मगर वह स्वयं हमारे पीछे पड़ा रहा और हमारा मित्र बन गया। एक दिन उसने डिमिट्री के कमरे से निकलते हुए, उनके रंग-बिरंगे पत्थरों के संग्रह को देखकर उनसे एक प्रश्न कर दिया: 'ऐस' का व्यवहार असहानुभूतिपूर्ण और स्वाभाविक था। डिमिट्री ने उसके प्रश्न का अनिच्छा से उत्तर दिया। इस पर 'ऐस' ने उस बक्स को सरकाकर जोर से हिला दिया। डिमिट्री ने कहा—"उसे छोड़ दो।" 'ऐस' ने उनकी बात न मानी और उसके साथ मजाक किया। यदि मुझे ठीक से याद है तो उसने उन्हें 'नूह' पुकारा था। डिमिट्री को इस पर भीषण क्रोध आया और उन्होंने 'ऐस' के मुंह पर अपने भारी हाथ से एक

---

1. 'नूह' संबोधन का उल्लेख 'मेरी मुक्ति की कहानी' के पृ. 4 पर है।

थप्पड़ जोर से मारा। 'ऐस' भागा और डिमिट्री उसके पीछे-पीछे भागे। दोनों भागकर हमारे कमरे की तरफ आये तो हमने 'ऐस' को अंदर लेकर दरवाजा बंद कर दिया। इस पर डिमिट्री ने कहा अच्छा, जब 'ऐस' मेरे कमरे से होकर वापस जायेगा तब मैं उसे पीटूंगा। सर्जी और मुझे याद पड़ता है, शायद शुवालोव डिमिट्री को मनाने के लिए भेजे गये कि वह 'ऐस' को चला जाने दे; परन्तु वह झाड़ लेकर बैठ गये और बोले कि मैं अच्छी तरह पीटूंगा। मुझे नहीं मालूम है कि यदि 'ऐस' कमरे में से जाता तो वह क्या करते। लेकिन उसने हमसे किसी दूसरे रास्ते से निकलने की प्रार्थना की और हमने उसे छतवाले कमरे से किसी प्रकार रेंग-रांगकर निकाला।

(टॉलस्टॉय ने एक बार एक सिपाही की पैरवी की थी, जिस पर अपने अफसर पर हाथ उठाने के आरोप में फांसी की सजा देने के लिए मुकदमा चल रहा था। टॉल्सटॉय की जीवनी के लेखक बीरूकोव ने टॉल्सटॉय से इस घटना का विस्तृत वर्णन मांगा। उस पर टॉलस्टॉय ने उन्हें निम्न पत्र लिखा:)

प्रिय मित्र पावेल इवानोविच,

तुम्हारी इच्छा पूरी करने और तुमने अपने पुस्तक में, जिस सिपाही की पैरवी करने का उल्लेख किया है, उसके संबंध में मेरे क्या विचार थे, इस पर पूरा प्रकाश डालने में मुझे प्रसन्नता है। भाग्य के उलट-फेरों, संपत्ति के विनाश या प्राप्ति, साहित्यिक-जगत में सफलता या असफलता, अपने प्रिय-से-प्रिय संबंधियों की मृत्यु-जैसी अधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं से भी अधिक उस घटना का मेरे जीवन पर प्रभाव पड़ा है।

मैं पहले तो यह बतलाऊंगा कि यह सब कैसे हुआ और उसके बाद यह बतलाऊंगा कि उस घटना के समय और कब उसकी स्मृति से मेरे मन में क्या-क्या भावनाएं और विचार पैदा हुए हैं।

मुझे यह याद नहीं है कि उस समय मैं किसी खास काम में लगा हुआ था। शायद आप यह बात मुझसे अधिक अच्छी तरह जानते होंगे।

मुझे तो बस इतना ही याद है कि उस समय मैं एक शांत, संतुष्ट और आत्माभिमान से पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा था। सन् 1856 की गर्मियों में हमारे पास सैनिक पाठशाला का एक विद्यार्थी ग्रीशा कोलोकोल्टसेव, जो बेहरो को जानता था और मेरी पत्नी का परिचित भी था, हमारे पास आया। मालूम हुआ कि वह सेना की एक टुकड़ी में, जो हमारे पास ही पड़ाव डाले हुई थी, नौकर था। वह प्रसन्नचित्त और अच्छे स्वभाव का लड़का था और उस समय अपने छोटे से कज्जाक घोड़े पर उछल-उछलकर दौड़ने में ही उसका समय बीतता था। अक्सर वह अपने घोड़े पर सवार होकर हमारे पास भी आया करता था।

उसके द्वारा हमारा उसकी टुकड़ी के सेनापति जनरल यू...और ए...एम. स्टासयुलेविच से परिचय हो गया। स्टासयुलेविच या तो पद में घटा दिया गया था या किसी राजनीतिक मामले के कारण सैनिक की हैसियत में काम करने को भेँजा गया था (मुझे ठीक कारण याद नहीं है)। वह प्रसिद्ध संपादक स्टासयूलेविच का भाई था। स्टासयूलेविच की जवानी बीत चुकी थी। जब हमारा परिचय हुआ उसी वक्त के करीब उसकी तरक्की हुई थी और वह ध्वजावाहक बना दिया गया। वह अपने पुराने साथी यू की सेना में, जो कि अब उसका कर्नल था, आ गया था। यू...और स्टासयूलेविच दोनों अक्सर घोड़ों पर चढ़कर हमारे पास आया करते थे। कर्नल यू...हृष्ट-पुष्ट, लाल-सुर्ख चेहरे और अच्छे स्वभाववाला कुछ उस प्रकार का अविवाहित व्यक्ति था जैसे किसाधारणतया होते हैं। उच्च पद और ऊंची सामाजिक स्थिति ने उसकी मानवी-प्रवृत्तियों को दबा दिया था। अपने पद और मान को बनाये रखना उसके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। मानवी दृष्टि से यह कहना कठिन है कि ऐसा आदमी विवेकी या सज्जन है, क्योंकि ऐसे मनुष्य के विषय में कोई यह नहीं जानता कि यदि वह एक कर्नल या प्रोफेसर या मंत्री या न्यायाधीश या एक पत्रकार न रहकर एक साधारण आदमी रह जाये तो कैसा होगा? यही हाल केवल यू...का था। वह एक सेना की टुकड़ी का कार्यवाहक सेनापति था;

लेकिन वह किस प्रकार का मनुष्य था, यह कहना असंभव था। मेरा तो यह खयाल है कि वह अपने-आपको भी न जानता होगा और न इसमें उसकी दिलचस्पी ही थी। स्टासयूलेविच इसके विपरीत था। यद्यपि अनेक प्रकार से, विशेषकर, उसके दुर्भाग्य और अपमानों से, जो उस-जैसे महत्त्वाकांक्षी और आत्माभिमानी मनुष्य को बड़े दु:ख के साथ सहने पड़े, उसका विनाश हो चुका था; परंतु वह फिर भी जीवन से भरा हुआ मनुष्य था। कुछ दिनों बाद वह दिखाई ही नहीं पड़ा। जब उनकी सेना किसी दूसरे स्थान पर चली गई उस समय मैंने सुना कि उसने बिना किसी व्यक्तिगत कारण से विचित्र रीति से आत्महत्या कर ली। एक दिन सबेरे उसने एक बहुत भारी फौजी ओवरकोट पहना और उसे पहनकर नदी में उतर गया। चूंकि वह तैरना नहीं जानता था, अत: नदी में डूबकर मर गया।

मुझे याद नहीं कि कोलोकोल्टसेव या स्टासयूलेविच दोनों में किसने गर्मी के दिनों में एक दिन सबेरे आकर एक घटना सुनाई जो सेना में एक असाधारण और भयानक बात थी। एक सिपाही ने एक कंपनी-कमाण्डर को मारा था। स्टासयूलेविच इस विषय पर ज़रा जोर से बोल रहा था। उस सिपाही के भाग्य के फैसले (अर्थात मृत्यु-दंड) के प्रति उसके हृदय में सहानुभूति थी। उसने मुझसे फौजी पंचायत के सामने उस सिपाही की वकालत करने की सिफारिश की।

यहां पर मैं यह कह देना चाहता हूं कि मुझे इस बात से कि एक आदमी जज बनकर किसी को मौत की सजा दे और अन्य आदमी (अर्थात् वधिक) उसे मौत के घाट उतारें केवल एक धक्का ही नहीं लगता था बल्कि सब कुछ असंभव और कृत्रिम लगता था। ऐसे भीषण कृत्य के संबंध में यह जानते हुए भी कि वह पहले हो चुका है, और अब भी प्रतिदिन हो रहा है, उस पर विश्वास नहीं होता था। मृत्यु-दंड दिये जाते हैं, यह मुझे मालूम है, फिर भी वे मुझे एक असंभाव्य कार्य मालूम पड़ते रहते हैं।

यह बात मेरी समझ में आती है कि क्षणिक आवेश में घृणा और प्रतिहिंसा के वशीभूत हो अथवा मानवी भावनाओं के नाश होने के कारण एक आदमी अपनी या अपने मित्र की आत्म- रक्षा के लिए किसी को मार सकता है, अथवा युद्ध के समय देश-भक्ति के नशे में, जिस समय मनुष्य मरने-मारने के लिए कटिबद्ध होता है, उस समय वह एक साथ सहस्रों आदमियों के संहार में भाग ले सकता है। लेकिन यह बात मेरी समझ में नहीं आती अपने ऊपर नियंत्रण रखते हुए, शांति से और जान-बूझकर अपने किसी भाई को मारने की आवश्यकता स्वीकार कर सकता है और दूसरों को मानव-स्वभाव के सर्वथा विपरीत यह कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। यह बात मेरी समझ में उस समय भी नहीं आई थी, जब कि मैं सन् 1866 में अहंकारी जीवन व्यतीत कर रहा था। इसलिए मैंने आशा भरे हृदय से उस सिपाही की वकालत करने का विचित्र निश्चय किया।

मुझे अजेर की गांव में उस स्थान पर जाने की अच्छी तरह याद है, जहां वह कैदी सिपाही रखा गया था। (मुझे यह याद नहीं कि वह कोई खास मकान था कि वही मकान था जिसमें वह काण्ड हुआ था) ईंटों के एक नीची छतवाले झोंपड़े में घुसने पर मैंने एक ठिगने से आदमी को देखा। वह लंबा होने के बजाय हृष्ट-पुष्ट अधिक था, जो कि सिपाहियों के लिए असाधारण बात थी। उकसी मुखाकृति बड़ी सरल, अपरिवर्तनशील और शांत थी। मुझे यह याद नहीं कि उस समय मेरे साथ दूसरा आदमी कौन था। परंतु जहां तक मुझे याद है वह कोलोकोल्टसेव था। जैसे ही हम घुसे, वह आदमी फौजी ढंग से उठ खड़ा हुआ। मैंने उससे कहा कि मैं तुम्हारा वकील होना चाहता हूं; अतः तुम मुझे ठीक-ठीक बता दो कि वह घटना किस प्रकार घटी। उसने बहुत थोड़ी बातें बताईं और मेरे प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में बड़ी उदासीनता और अनिच्छा से यही उत्तर दिया—'हां, यही हुआ था।' उसके उत्तरों से तो यही निष्कर्ष निकलता था कि वह काम करने में सुस्त था और उसका कप्तान बड़ी कड़ाई से काम लेता था। उसने कहा—"उसने मुझसे बड़ा सख्त काम लिया।"

जैसा कि मैंने समझा कि उसके यह काण्ड कर बैठने का कारण यही था कि कुछ महीने से कप्तान ने—जो बाहर से देखने में बड़ा शांत था—अपने उकता देनेवाले एकरस स्वर में एक ही काम को, जो उस आदमी ने (वह दफ्तर का अर्दली था) अपनी समझ से ठीक-ठीक किया था, दुबारा करने की आज्ञाएं दे-देकर और उन आज्ञाओं का बिना ननु-नच के पालन कराकर, इतना उत्तेजित कर दिया कि वह सब्र की सारी सीमाओं को लांघ गया और उसकी हालत 'मरता क्या न करता' जैसी हो गई। मेरा खयाल है कि उन दोनों में परस्पर एक-दूसरे के प्रति कुछ घृणा के भाव भी थे। जैसा कि बहुधा होता है, कंपनी-कमाण्डर उस अर्दली के प्रति विरोध-भावना रखने लगा था। उसे यह संदेह हुआ कि यह अर्दली मेरे पोल होने के कारण मुझसे घृणा करता है। इससे इसकी विरोध-भावना और बढ़ गई। उसने अफसर होने का लाभ उठाकर उसके हर काम से असंतोष प्रकट करना और सब काम को, जिसे वह आदमी समझता था कि उसने ठीक किया है, दुबारा करने के लिए उसे बाध्य करना आरम्भ किया। अर्दली भी उसके पोल होने, उसकी योग्यता पर विश्वास न करने और सबसे अधिक उसके ऊंचा अफसर होने के कारण, जिससे वह उसकी कोई शिकायत न कर सकता था, उससे घृणा करता था। अपनी घृणा व्यक्त करने का कभी अवसर न मिलने के कारण वह आग भीतर-ही-भीतर सुलगती रही और प्रत्येक डांट-फटकार के साथ बढ़ती गई। अपनी सीमा पर पहुंचकर वह आग उस रूप में भड़क उठी, जिसका कि उसने स्पप्न में भी विचार नहीं किया था। तुमने तो मेरी जीवनी में यह लिखा है कि उस आदमी की क्रोधाग्नि कप्तान के यह कहने से कि वह कोड़ों से उसकी खाल उधड़वा देगा भभक उठी, गलत है। कप्तान ने उसे केवल एक कागज वापस दिया और उससे उसे ठीक करने और दुबारा लिखने के लिए कहा था।

पंच शीघ्र ही नियत कर दिये गए। सरपंच कर्नल यू...थे तथा कोलोकोल्टसेव तथा स्टासयूलेविच सहायक पंच थे। कैदी पंचों के सामने लाया गया। अदालती शिष्टाचार के बाद, जिसके संबंध में मुझे कुछ याद

नहीं रह गया है, मैंने अपना भाषण पढ़ा, जो मुझे अब केवल विचित्र ही लगता है, बल्कि लज्जा से भर देता है। पंचों ने भी केवल शिष्टाचार के नाते वे सब निरर्थक बातें, जो मैंने बहुत से कानूनी ग्रंथों का हवाला देते, कही-सुनीं और सब कुछ सुनने के बाद आपस में सलाह करने के लिए चले गये। उस पारस्परिक विचार-विनिमय के समय, जैसा कि मुझे बाद में मालूम हुआ, केवल स्टासयूलेविच ही उस मूर्खतापूर्ण कानूनी नजीर से सहमत था, जिसके आधार पर मैंने कहा था कैदी को इसलिए छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह अपने काम के लिए उत्तरदायी नहीं है। सदाशय कोलोकोल्टसेव यद्यपि वही करना चाहता था जो मैं चाहता था; परंतु अंत में वह कर्नल यू...के सामने झुक गया और उसके मत ने मामले का फैसला कर दिया। सिपाही को गोली से उड़ाकर मारने की सजा सुना दी गई। मुकदमा समाप्त होने के बाद शीघ्र ही मैंने एक संभ्रांत महिला एलेक्जेंड्रा एंड्रोवना टॉलस्टॉय को, जो मेरी घनिष्ट मित्र थीं और जिनकी राज-दरबार में पहुंच थी, लिखा कि वह सम्राट एलेक्जेंडर द्वितीय से शिबूनिन को क्षमा दिला दें। मैंने उन्हें लिखा तो सही; लेकिन चित्त अस्थिर होने के कारण उस रेजिमेंट का नाम देना भूल गया, जिसमें शिबूनिन था। उसने युद्धमंत्री मिलयूटिन को भी लिखा; परंतु उसने भी यही कहा कि उस रेजीमेंट का नाम लिये बिना सम्राट के सामने आवेदन-पत्र पेश करना असंभव है। उसने मुझे लिखा। मैंने जल्दी-से-जल्दी उत्तर दिया, लेकिन रेजीमेंट के कप्तान ने भी जल्दी की। अतः जिस समय तक सम्राट के सामने पेश करने के लिए आवेदन-पत्र तैयार हुआ, उस समय तक उस सिपाही को गोली से उड़ा दिया गया।...

उस सिपाही की सफाई में मैंने जो उल्टा-सीधा, मूर्खतापूर्ण भाषण दिया था और जिसे अब तुमने प्रकाशित किया है, उसे दुबारा पढ़कर मेरी आत्मा विद्रोह करती है। दैवी और मानवी कानूनों के खुले तौर पर तोड़े जाने का उल्लेख करते हुए, जो मनुष्य अपने भाइयों के विरुद्ध कर रहा है, मैंने जो कुछ किया था वह यही था कि कुछ मूर्खतापूर्ण शब्द उद्धृत कर दिये थे, जिन्हें मनुष्य ने लिखकर कानून का रूप दे दिया है।

वास्तव में अब मैं उस उल्टी-सीधी और मूर्खतापूर्ण वकालत पर लज्जित हूं। अगर एक आदमी यह जानता है कि ये आदमी क्या करने के लिए इकट्ठे हुए हैं—वे अपनी फौजी वर्दी में मेज के तीन तरफ बैठे और सोच रहे हैं कि कुछ शब्दों के कारण, जो कुछ पुस्तकों में लिखे हुए हैं और अनेक शीर्षों और उपशीर्षों के साथ-साथ कागज पर छपे हुए हैं, वे अनंत ईश्वरीय कानूनों को, जो यद्यपि किसी पुस्तक में छपा हुआ नहीं है, परंतु प्रत्येक मानव के हृदय में अंकित है; तोड़ सकते हैं; तब उनके सामने उन मूर्खतापूर्ण और झूठे शब्दों द्वारा (जिन्हें हम कानून कहते हैं) चतुरता से सिद्ध करने की कोई जरूरत नहीं कि किसी आदमी को मौत से मुक्त कर देना संभव है। उन्हें तो सिर्फ यह याद कराने की जरूरत है कि वे कौन हैं और क्या कर रहे हैं? हर एक आदमी यह जानता है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवन पवित्र है; और किसी दूसरे को किसी का प्राण लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसको सिद्ध नहीं किया गया जा सकता, क्योंकि इसे किसी प्रमाण द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। हां, एक बात आवश्यक, संभव और ठीक है। वह यह कि आदमियों—जजों—को उस जड़ता से मुक्त करना, जिसके कारण उनमें यह पाशविक और अनुमानुषिक विचार आता है। यह सिद्ध करना है कि आदमी को दूसरे को मौत की सजा नहीं देनी चाहिए, यही सिद्ध करने के बराबर है कि एक आदमी को वह काम नहीं करना चाहिए, जो उसकी प्रकृति के प्रतिकूल और अंतरात्मा के विरुद्ध हो अर्थात् उसे जोड़े में नंगा नहीं फिरना चाहिए, नाबादान की वस्तुएं नहीं खानी चाहिए और चारों हाथ-पाव नहीं चलाना चाहिए। यह मनुष्य की प्रकृति और आत्मा के विरुद्ध है, यह बात आज से वर्षों पूर्व उस स्त्री की कहानी द्वारा, जिसे पत्थर से मार-मारकर मार डाला जाने वाला था, सिद्ध हो चुकी है।

क्या यह संभव है कि मनुष्य (कर्नल यू...और ग्रिसा कोलोकोल्टसेव जैसे) अब इतने न्यायप्रिय हो गये हैं कि उन्हें पहला पत्थर फेंकने (दूसरों को अपराधी करार देने) में कोई डर नहीं है।

उस समय मैं यह बात नहीं समझता था। जब मैंने अपनी चचेरी बहन टॉलस्टॉय के द्वारा शिबूनिन को क्षमा दिलाने का आवेदन-पत्र दिया, उसे समय भी यह बात नहीं समझता था। उस समय मैं कितने भ्रम में था कि शिबूनिन के साथ जो कुछ हुआ वह एक साधारण-सी बात है। अपने उस भ्रम पर मुझे अब आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता।

उस समय मैं ये सारी बातें नहीं समझता था। उस समय तो मेरे मन में एक अस्पष्ट-सी भावना थी जो कुछ हो गया है वह नहीं होना चाहिए; और यह घटना कोई आकस्मिक घटना नहीं थी, बल्कि इसका मानव-जाति की अन्य भूलों और पीड़ाओं से गहरा संबंध है, और यह सबके मूल (जड़) में है।

उस समय भी मेरे मन में एक अस्पष्ट भावना थी कि मौत की सजा—जान-बूझकर सोच-विचारकर और पहले से निश्चय करके की गई हत्या—यह कृत्य है, जो कि ईसाई धर्म के (जिसके हम अनुयायी हैं) खिलाफ है। यह विवेकशील जीवन और नैतिकता भंग करने वाली चीज है। क्योंकि अगर एक आदमी या कुछ आदमी मिलकर यह निश्चय करें कि एक आदमी या किसी दल का वध करना आवश्यक है तो दूसरे आदमी या दल को किसी की हत्या करने से कौन रोक सकता है? और क्या उन आदमियों का जीवन विवेकशील और नैतिक हो सकता है, जो अपनी इच्छानुसार एक-दूसरे को मार सकें?

मैं उस समय भी यह महसूस करता था कि धर्म और विज्ञान मौत की सजा के लिए जो युक्तियां देते हैं इनके द्वारा हिंसा करने की न्यायोचितता सिद्ध होने के स्थान पर उल्टे धर्म और विज्ञान का खोखलापन ही सिद्ध होता है : मुझे यह अनुभव पहली बार पेरिस में हुआ जब मैंने एक फांसी का दृश्य दूर से देखा।[1] परंतु जब मैंने इस मामले में भाग लिया तो मेरे मन

---

1. यह घटना सन् 1858 की है और 'कनफेशन' के 12वें पृष्ठ पर उसका वर्णन किया है।

में इस संबंध में जोरदार भावनाएं उठीं। फिर भी मुझे अपने ऊपर विश्वास करने में और संसार के निर्णय से अपने को विलग करने में डर लगता था। बहुत दिनों के बाद मुझे अपनी धारणाओं में विश्वास पैदा हुआ और उन दो महाभयानक जालों को अस्वीकार कर सका, जिनकी मुट्ठी में सारा संसार है और जो सब पीड़ाएं और उत्पीडन पैदा करते हैं, जिससे मानव-जाति कष्ट पा रही है। ये दोनों जाल चर्च और विज्ञान हैं।

बहुत दिनों बाद जब मैंने उन युक्तियों का ध्यान से अध्ययन करना आरंभ किया, जो 'चर्च' (धर्म-संस्था) और विज्ञान आजकल के राजतन्त्र के समर्थन में दिया करते हैं, तब मैं उन दो बड़े जालों को स्पष्ट जान गया, जिनके द्वारा वे राज्य की काली करतूतों पर परदा डालना और उन्हें जनता से छिपाना चाहते हैं। मैंने लाखों और करोड़ों की संख्या में प्रचारित धर्म व विज्ञान की पुस्तकों के उन लंबे लंबे अध्यायों को पढ़ा है, जिनमें कुछ आदमियों की इच्छानुसार दूसरों को फांसी पर चढ़ा देने के औचित्य और आवश्यकता सफाई पेश की गई है।

विज्ञान के दोनों प्रकार के ग्रंथों में—जिसे न्याय शास्त्र (जुरिस्प्रुडेंस) कहते हैं व जिसमें फौजदारी कानून भी शामिल हैं, उसमें और विशुद्ध विज्ञान-संबंधी ग्रंथों में—यही बात अधिक संकीर्णता और विश्वास के साथ तर्क-पूर्वक दी गई है। फौजदारी कानून के संबंध में तो कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है। वह तो सफेद झूठ, छल और प्रपंचों का क्रमागत इतिहास ही है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये गए सभी प्रकार के हिंसात्मक कामों को यहां तक कि मनुष्य द्वारा मनुष्य की हत्या को भी, न्यायोचित ठहराता है। और डार्विन से लेकर अब तक के वैज्ञानिक ग्रंथों में भी, जो जीवन-संघर्ष को जीवन का आधार मानते हैं, यही बात निहित है। जेना विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अर्नेस्ट हेकेल जैसे सिद्धान्त के जबर्दस्त समर्थक अपनी पुस्तक संदेहवादियों की गीता Naturilich Schopfungsge schichte में स्पष्ट लिखते हैं—

"मानव-जाति के सांस्कृतिक जीवन में कृत्रिम चुनाव बहुत लाभदायक

प्रभाव डालता है। उदाहरण के लिए श्रेष्ठ स्कूली शिक्षा और लालन-पालन का संस्कृति की बहुमुखी प्रगति में कितना भारी स्थान है! यद्यपि आजकल बहुत से आदमी मौत की सजा 'उदार भाव से' उड़ा-देने की बड़े जोर-शोर से वकालत कर रहे हैं, और मानवता के थोथे नाम पर अपने पक्ष में बहुत-सी युक्तियां दे रहे हैं; लेकिन मौत की सजा भी कृत्रिम चुनाव की भांति लाभदायक प्रभाव डालती है। जिस प्रकार एक सुन्दर उद्यान को बनाये रखने के लिए घास-फूस और झाड़-झंखाड़ उखाड़ फेंकते रहने की आवश्यकता है; उसी प्रकार उन बहुसंख्यक अपराधियों और बदमाशों के लिए, जो कभी ठीक ही नहीं हो सकते, मौत की सजा केवल उचित दंड ही नहीं है, बल्कि संस्कृत मानव-जाति के लिए बड़े लाभ की चीज है। जिस प्रकार घास-फूस को ठीक से साफ करने पर पेड़ों और पौधों को अधिक वायु, प्रकाश और बढ़ने के लिए जगह मिलती है, ठीक उसी प्रकार कठोर अपराधियों का सफाया कर देने से 'संस्कृत' मानव-जाति का 'जीवन-संघर्ष' केवल कम ही नहीं हो जायेगा, बल्कि कृत्रिम चुनाव का लाभ भी प्रदान करेगा, क्योंकि इस रीति से मानव-जाति का पतित अंश शेष जाति पर अपने दुर्गुणों का प्रभाव न डाल सकेगा।"

खेद यह है कि मनुष्य ऐसी बातें पढ़ते हैं, दूसरों को पढ़ाते हैं और उसे विज्ञान के नाम से पुकारते हैं। लेकिन किसी के दिमाग में यह प्रश्न नहीं उठता कि यह मान लेने पर कि बुरे आदमियों को मार डालना अच्छा है, अच्छे और बुरे का निर्णय कौन करेगा? उदाहरण के लिए मान लीजिये मैं समझता हूं कि मि. हैकल से ज्यादा बुरा और ज्यादा हानिकारक आदमी संसार में दूसरा नहीं है। लेकिन क्या इसका मतलब यह है कि मैं अथवा मेरे जैसे विचार रखनेवाले आदमी मि. हैकल को फांसी की सजा दे दें? नहीं, वह जितनी ही बड़ी-बड़ी भूलें करेंगे उतना ही मैं चाहूंगा कि वह अधिक विवेकी और युक्ति-युक्त हों। किसी भी दशा में मैं उन्हें इस प्रकार का व्यक्ति बनने देने के अवसर से वंचित नहीं कर सकता।

चर्च और विज्ञान के मिथ्यावाद ने ही आज हमें उस गड्ढे में डाल

रखा है जिसमें हम हैं। युगों में महीने और वर्ष में एक दिन भी ऐसा नहीं जाता, जिस दिन फांसियों, हत्याएं न होती हों। कुछ आदमी क्रांतिकारियों की अपेक्षा सरकार द्वारा अधिक आदमी वध किये जाने पर प्रसन्न होते हैं। अन्य लोग बहुत-से सेनापतियों, भूपतियों, व्यापारियों तथा पुलिस-वालों के मारे जाने पर प्रसन्न होते हैं। एक ओर तो हत्याओं के लिए 10—15 और 25 रूबल के इनाम दिये जाते हैं और दूसरी ओर क्रांतिकारी लोग हत्यारों और जबर्दस्ती संपत्ति छीननेवालों का आदर और मान करते हैं और उन्हें शहीद की पदवी देते हैं। "...उन आदमियों से मर डरो, जो शरीर का नाश करते हैं बल्कि उनसे डरो जो शरीर और आत्मा दोनों का विनाश कर देते हैं।..."

इन बातों को मैंने बाद में समझा। परंतु एक स्पष्ट-सी अनुभूति मेरे मन में उस समय भी थी, जब मैंने इतनी मूर्खतापूर्ण और लज्जाजनक रीति से उस अभागे सिपाही की वकालत की थी। इसलिए मैं कहता हूं कि मेरे जीवन पर उस घटना का भारी प्रभाव पड़ा है।

हां, उस घटना का मेरे जीवन पर बहुत अच्छा और लाभदायक प्रभाव पड़ा है। उसी समय मैंने पहली बार यह अनुभव किया कि हर प्रकार की हिंसा की पूर्ति में हत्या या हत्या की धमकी छिपी हुई है, इसलिए हर प्रकार की हिंसा हत्या के साथ जुड़ी हुई है। दूसरे यह कि राज्य-शासन की कल्पना बिना हत्या के नहीं हो सकती और इसलिए वह ईसाई धर्म के साथ मेल नहीं खाती। तीसरे यह कि जिस प्रकार पहले चर्च के उपदेश के विषय में हुआ था, उसी प्रकार हम आज जिसे विज्ञान कहते हैं, वह वर्तमान बुराइयों की एक झूठी वकालत के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

अब मेरे निकट यह बात बिल्कुल स्पष्ट है; परंतु उस समय तो वह उस मिथ्यावाद, की जिसके बीच मैं अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, एक क्षीण-स्वीकृति-मात्र थी।

यासनाया पोल्याना

14 मई, 1908 —लियो टॉल्सटॉय

'मण्डल' द्वारा प्रकाशित
लियो टॉल्सटॉय का साहित्य

- कलवार की करतूत
- बुराई कैसे मिटे
- ईसा की सिखावन
- धर्म और सदाचार
- प्रेम में भगवान
- हम करें क्या
- जीवन-साधना
- अँधेरे में उजाला
- सामाजिक कुरीतियाँ
- स्त्री और पुरुष
- हमारे ज़माने की गुलामी
- कितनी ज़मीन?
- बालकों का विवेक
- मेरी मुक्ति की कहानी



सस्ता साहित्य मण्डल

सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन
एन-77, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 23310505, 41523565
Visit us at : www.sastasahityamandal.org
E-mail : manager@sastasahityamandal.org